जैन दर्शन की रूपरेखा

(OUTLINES OF JAINISM)

एस. गोपालन

जैन दर्शन की रूपरेखा

एस. गोपालन
दर्शनशास्त्र के उच्च अध्ययन का केन्द्र
मद्रास विश्वविद्यालय

भाषान्तर :
गुणाकर मुले

वाइली ईस्टर्न लिमिटेड
नयी दिल्ली

मूल्य : सोलह रुपये

विनोदकुमार द्वारा वाइली ईस्टर्न लिमिटेड, AB 8 सफदरजंग एन्क्लेव, नयी दिल्ली-110016 के लिए प्रकाशित तथा प्रिंट्समैन, नयी दिल्ली में मुद्रित।

प्राक्कथन

यह पुस्तक मद्रास विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के उच्च अध्ययन केन्द्र में मेरे द्वारा 1969 ई० से प्रस्तुत किये गये पाठ्यक्रम पर आधारित है। मद्रास विश्वविद्यालय की भारतीय दर्शन की स्नातकोत्तर उपाधि के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप का है। अत: इसके लिए केवल जैन धर्म से सम्बन्धित तथ्यों का प्रस्तुतीकरण ही पर्याप्त नहीं था, बल्कि अधिक गहराई में उतरकर इसे भारतीय परम्परा के एक अभिन्न अंग के रूप में भी प्रस्तुत करना आवश्यक था। अपने पाठ्यक्रम के दौरान मैंने यही दिखाने का प्रयास किया है कि समग्र भारतीय परम्परा के प्रकाश में ही जैन दर्शन को भली भांति समझा जा सकता है, और भारतीय संस्कृति की समृद्धता का बेहतर आकलन जैन दर्शन के विविध अंगों की गहराई में उतरने के बाद ही संभव है। इसके लिए मुझे प्रथमत: जैन परम्परा का 'विच्छेदन' करना पड़ा और इसके विविध अंगों का सूक्ष्म विश्लेषण करना पड़ा। साथ ही, जैन धर्म की उत्पत्ति तथा अन्य धर्मों के साथ इसके सम्बन्ध को लेकर जो गलतफहमियां हैं उन्हें भी दूर करना जरूरी था।

अपने विद्यार्थियों के आग्रह पर मैंने अपने संपूर्ण विश्लेषण को कागज पर उतारा, और उचित समझा कि सामान्य पाठकों भारतीय और विदेशी दोनों ही – की दृष्टि से और जैन चिंतन के गंभीर अध्येताओं की दृष्टि से भी सम्पूर्ण परम्परा का एक सर्वांगीण सर्वेक्षण प्रस्तुत करने के साथ-साथ विषय की प्रमुख बातों के विवेचन में संक्षेप का ध्यान रखा जाय। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर जैन धर्म का सामान्य परिचय (भूमिका), ज्ञानमीमांसा, मनोविज्ञान, तत्त्वमीमांसा तथा नीतिशास्त्र के भागों की रचना हुई है। लेखक इस बात को महसूस करता है कि जैन दार्शनिकों की वैशिष्ट्यपूर्ण सर्वांगीण दृष्टि को और सूक्ष्म विवेचन को करीब पौने दो सौ पृष्ठों में प्रस्तुत करना समीचीन नहीं है, परन्तु आशा है कि इस परम्परा के प्रमुख अंगों का विवेचन (चाहे कितना भी संक्षिप्त क्यों न हो) करके ऐसे सारतत्त्व को व्यक्त किया ही जा सकता है जिसमें न केवल विषय का व्याख्यान हो, बल्कि सम्पूर्ण परम्परा का समुचित निरूपण भी हो। प्रस्तुत कृति में निरूपण को विशिष्ट महत्त्व दिया गया है, यह दावा मैं नहीं

करता। इस पुस्तक की रचना में मेरी यही मान्यता काम करती रही कि धारणाओं की गहराइयों में उतरकर यदि हम सामान्य समझ के छिलके को दक्षता से उतार फेंकते हैं, तो जैन धर्म के सर्वांगीण महत्त्व को भलीभांति समझा जा सकता है। जैन मुनि आचार्य तुलसी द्वारा उद्घाटित अणुव्रत आन्दोलन के बारे में भी पुस्तक में कुछ पृष्ठ हैं। इनसे स्पष्ट होगा कि पुरातन जैन धारणाओं को पुनर्जीवित किया जा सकता है, और वर्तमान परिस्थितियों में उनका सदुपयोग किया जा सकता है।

यहां अपने उन विद्यार्थियों के प्रति आभार व्यक्त करना जरूरी समझता हूं जिनकी सहज जिज्ञासा ने मुझे प्रोत्साहित किया और जैन धर्म को गहराई से समझने की अतिस्पृहा ने इस पुस्तक की रचना को संभव बनाया है। प्रकाशक ने पुस्तक में गहरी दिलचस्पी दिखायी और इसे जल्दी प्रकाशित किया, इसलिए उन्हें भी धन्यवाद देता हूं। समाप्त करने के पहले मैं अपनी पत्नी उमा के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करता हूं जिन्होंने पुस्तक के संपादन काल में और शब्दानुक्रमणिका तथा पुस्तक-सूची तैयार करने में मेरी सहायता की है।

एस० गोपालन

२६ मई, 1973
दर्शनशास्त्र के उच्च अध्ययन का केन्द्र,
मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास-600005

विषय-सूची

चतुर्थ भाग : तत्त्वमीमांसा

पंचम भाग : नीतिशास्त्र

प्रथम भाग : भूमिका

क्या जैन धर्म बौद्ध धर्म की एक शाखा है ?

1

सर्वविदित है कि भारत के तीन प्रमुख धर्मों—हिन्दू, बौद्ध तथा जैन—में से पहले दो धर्मों के प्रति ही भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों का विशेष आकर्षण रहा है। जैन धर्म के अनुशीलन की बड़ी उपेक्षा हुई है, भारतीय विद्वान भी उदासीन रहे। जैन धर्म भारत में आज भी जीवित है, फिर भी, बड़े आश्चर्य की बात है कि, अपनी जन्मभूमि में ही यह धर्म काफी उपेक्षित है। दूसरी ओर, बौद्ध धर्म का भारतभूमि से लगभग लोप हो गया है, फिर भी यहां भारत में इस धर्म का अपने निकट के जैन धर्म की अपेक्षा अधिक गहन अध्ययन हुआ है और लोगों को इसके बारे में जानकारी भी अधिक है। इस दशा का एक कारण यह भी हो सकता है कि एक समय बौद्ध धर्म इतना अधिक प्रभावशाली था कि इसे एशिया का धर्म समझा जाता था। बौद्ध धर्म को यह जो अधिक महत्त्व मिला है, इसके सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त दो कारण बतलाते हैं : (1) इन दो धर्मों में कुछ बातें समान हैं, जो (वस्तुतः निर्णायक तो नहीं हैं, परन्तु) प्रभावक हैं, और (2) विदेशी तथा भारतीय विद्वानों को जैन धर्म के मूल ग्रन्थ प्राप्त न हो सके। वे लिखते हैं : "जैन तथा बौद्ध धर्म, ब्राह्मण धर्म के परिवेश के बाहर, मूलतः श्रमण परम्परा के धर्म थे। दोनों की दार्शनिक मान्यताओं में मौलिक भेद होने पर भी इनमें कुछ बाह्य समानताएं हैं, इसलिए जिन यूरोपीय विद्वानों ने अपर्याप्त सामग्री से जैन धर्म का परिचय प्राप्त किया, उन्हें लगा कि यह धर्म बौद्ध धर्म की ही एक शाखा है। जैन साहित्य की जानकारी न रखनेवाले भारतीय भी अक्सर इसी गलतफहमी के शिकार होते दिखाई देते हैं।"[1] यहां दासगुप्त के विचार में इन दो धर्मों के बीच जो समानताएं हैं, वे संभवतः ये हैं : (1) दोनों धर्मों का उदय भारत के एक ही प्रदेश में हुआ है, (2) दोनों ने देश में प्रचलित तत्कालीन कट्टरपंथी विचारों का विरोध किया, (3) दोनों हिन्दू समाज की वर्ण व्यवस्था के विरोधी थे, (4) दोनों ने ही अपने-अपने मतानुसार ईश्वर को नकारा, (5) दोनों ने ही समान

1. 'ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी' (कैम्ब्रिज : यूनिवर्सिटी प्रेस, 1963), खण्ड 1, पृ० 169

शब्दों का प्रयोग किया, यद्यपि उनके अर्थ भिन्न रहे, और (6) दोनों ने अहिंसा के विचार तथा आचरण को हिन्दू धर्म से भी अधिक महत्त्व दिया।

अपने विचारों की पुष्टि के लिए जब कोई विद्वान कुछ प्राचीन ग्रन्थों के अनुवादों के ही पन्ने पलटता है, तो वह गलत परिणाम पर पहुंचता है। यह बात केवल भारतीय चिन्तन पर ही लागू नहीं होती, इसलिए यहां इसके बारे में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। यहां हमें यही देखना है कि किस प्रकार विद्वज्जगत् में भी जैन धर्म को बौद्ध धर्म की केवल एक शाखा समझा गया है। डब्ल्यू० एस० लिल्ली लिखते हैं : "बौद्ध धर्म अपनी जन्मभूमि में जैन धर्म के रूप में जीवित है। यह एक सचाई है कि भारत से जब बौद्ध धर्म का लोप हो गया, तभी जैन धर्म लोकप्रिय हुआ।"[2] एच० एच० विल्सन ने तो यहां तक कहा है कि जैन धर्म का जन्म ईसा की आठवीं या नौवीं सदी में ही हुआ है। वे लिखते हैं : "अतः सभी प्रमाणों से हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि जैन सम्प्रदाय का अभ्युदय अर्वाचीन काल में हुआ है और इसे प्राधान्य एवं राज्याश्रय करीब आठवीं तथा नौवीं सदी में मिला है। उसके पहले भी संभवतः बौद्धों की एक शाखा के रूप में जैनों का अस्तित्व रहा है, और जिस धर्म के उत्थान में उन्होंने सहयोग दिया था उसी का दमन करके उन्होंने अपने को ऊपर उठाया है। इस मत के समर्थन में दक्षिण भारत के इतिहास में कई उदाहरण मिलते हैं : अकलंक नामक एक जैन मुनि ने कांची के बौद्धों को निरुत्तरित कर दिया, इसलिए उन्हें देश से निकाल दिया गया। कहा जाता है कि मदुरा का वर पाण्ड्य जब जैन बना तो उसने बौद्धों पर जुल्म किये, उन्हें शारीरिक यातनाएं दीं और देश से निकाल बाहर किया...। अतः परिणाम यह निकलता है कि भारत से बौद्धों के पूर्ण लोप का संबंध जैनों के प्रभाव से है, जिसकी शुरुआत छठी या सातवीं सदी में हुई और जो बारहवीं सदी तक कायम रहा।"[3] सर चार्ल्स ईलियट का मत है : "उनकी अनेक मान्यताएं, विशेषतः पुरोहितों एवं देवताओं में उनकी अनास्था, जो कि किसी भी धर्म के मामले में हमें एक विचित्र बात लगती है, बौद्ध धर्म से काफी साम्य रखती है, और एक प्रकार से जैन धर्म बौद्ध परम्परा की ही एक शाखा है। परन्तु यह कहना अधिक सही होगा कि यह उस व्यापक आंदोलन का एक काफी प्राचीन एवं विशिष्ट संगठन था जिसकी चरम परिणति बौद्ध धर्म में हुई है।"[4]

2. सी० जे० शाह द्वारा उद्धृत, 'जैनिज्म इन नॉर्थ इंडिया' (लंदन : लॉगमैन ग्रीन एण्ड कं०, 1932), भूमिका, पृ० xviii
3. 'वर्क्स ऑफ विल्सन' (लंदन : ट्रबनेर एण्ड कं०, 1861), खण्ड I, पृ० 334
4. 'हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म' (लंदन : रुटलेज एण्ड केगन पॉल लि०, 1962), खण्ड I, पृ० 105

परन्तु अब जैनधर्म को बौद्धधर्म की एक शाखा नहीं समझा जाता। इसका श्रेय दो जर्मन विद्वानों के अनुसंधान कार्य को है। हर्मन याकोबी ने कल्पसूत्र[5] के अपने संस्करण की भूमिका में और अपने लेख महावीर एण्ड हिज प्रिडिसेसर्स[6] (महावीर और उनके पहले के तीर्थंकर) में बतलाया है कि जैन धर्म का जन्म स्वतंत्र रूप से हुआ है। जॉर्ज बूलर ने अपने लेख इंडियन सेक्ट ऑफ द जैनाज[7] (भारत का जैन सम्प्रदाय) में जैन धर्म के जन्म तथा विकास की व्यापक एवं वैज्ञानिक जानकारी दी है।

चूंकि जैन तथा बौद्ध धर्मग्रन्थों में चौबीसवें तीर्थंकर महावीर (जिन्हें गलती से जैन धर्म का संस्थापक माना जाता है) के लिए कुछ अन्य नाम मिलते हैं, इसीलिए संभवतः शोधकर्त्ता इस तथ्य को महसूस नहीं कर पाये कि जैन धर्म, बौद्ध धर्म की एक शाखा तो है ही नहीं; बल्कि इसका मूल अधिक प्राचीन है। महावीर ज्ञातृ क्षत्रिय कुल में पैदा हुए थे, इसलिए ज्ञातपुत्र कहलाते थे। प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में जैनों के लिए सामान्यतः निर्ग्रन्थ (बन्धनमुक्त) शब्द मिलता है और पालि बौद्ध ग्रन्थों में निगण्ठ शब्द। इस दूसरे शब्द पर थोड़ा विचार करने से उन तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है जो कि जैन धर्म के कई विद्यार्थियों को सुस्पष्ट नहीं हैं। ज्ञात के लिए पालि का समरूप शब्द है नात और इसीलिए बौद्ध धर्म ग्रन्थों में महावीर को नातपुत्त कहा गया है। बौद्ध पिटकों में निगण्ठों को बुद्ध तथा उनके अनुयायियों के विरोधी कहा गया है। जाहिर है कि उनके मतों का खण्डन करने के लिए ही उन्हें विरोधी कहा गया है। बौद्ध ग्रन्थों में जो निगण्ठनाथ, निगण्ठ नातपुत्त तथा नातपुत्त शब्द पाये जाते हैं वे महावीर के द्योतक हैं। इस संदर्भ में बूलर लिखते हैं : "जैन धर्म के संस्थापक[8] के वास्तविक नाम की खोज प्रोफेसर याकोबी और मैंने की है। ज्ञातपुत्र शब्द जैन तथा महायानी बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है। पालि में नातपुत्त शब्द है और जैन प्राकृत में नायपुत्त। जान पड़ता है कि ज्ञात या ज्ञाति नाम का कोई राजपूत कुल था जिससे निर्ग्रन्थ उत्पन्न हुए हैं।"[9] चूंकि बौद्ध ग्रंथों में केवल महावीर के नाम का उल्लेख न होकर साथ में उस दार्शनिक मत का भी उल्लेख है जिसके वे अनुयायी थे, इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि महावीर के पहले भी जैन धर्म का अस्तित्व रहा है। इसमें संदेह नहीं कि महावीर और बुद्ध समकालीन थे और, चूंकि बौद्ध ग्रन्थ जैन मत का उल्लेख करते हैं, इसलिए हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि जैनों का अपना एक

5. 'द कल्प-सूत्र ऑफ भद्रबाहु' (लाइपजिग, 1879), पृ० 1-15
6. देखिये, 'द इंडियन एण्टीक्वेरी', खण्ड IX, पृ० 158
7. लेख 1877 ई० में पढ़ा गया था।
8. यहां महावीर को जैन सम्प्रदाय का संस्थापक कहा गया है। निश्चय ही विद्वान लेखक से यह भूल किसी क्षणिक असावधानी के कारण हुई होगी।
9. इं० ए०, VII, पृ० 143

स्वतंत्र धर्म था और इसके स्रोत पहले के युग में रहे हैं। एक प्राचीन बौद्ध सूत्र सामगाम सुत्त में उल्लेख है कि पावा में एक निगंठ नातपुत्त की मृत्यु हो गयी है। बौद्ध ग्रन्थ मज्झिम निकाय में एक स्थान पर बुद्ध और निगंठ के एक पुत्र के बीच हुए वाद-विवाद का प्रसंग है। इस प्रकार बौद्ध ग्रन्थों में जैनों के एक वर्ग के बारे में जानकारी मिलती है, इसलिए इस मान्यता को बल मिलता है कि बौद्धों के अन्तर्गत जैनों का निश्चय ही कोई उपवर्ग नहीं था।

विशेष बात यह है कि बौद्ध ग्रन्थों में कहीं पर भी जानकारी नहीं मिलती कि निर्ग्रन्थों का यह सम्प्रदाय नवसंस्थापित था। अत: निश्चय ही बुद्ध के काफी समय पहले से जैन धर्म का अस्तित्व रहा होगा। याकोबी लिखते हैं: "बौद्ध ग्रंथों में, पिटकों के प्राचीनतम अंशों में भी, अक्सर निर्ग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं। परन्तु किसी भी प्राचीन जैन सूत्र में मुझे बौद्धों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिला है, यद्यपि उनमें जमालि, गोशालक तथा अन्य नास्तिक उपदेशकों के बारे में लम्बी कथाएं मिलती हैं। चूंकि यह स्थिति दोनों सम्प्रदायों के कालान्तर के परस्पर सम्बन्धों की स्थिति से बिलकुल उलटी है, और क्योंकि यह हमारी इस मान्यता से मेल नहीं खाती कि दोनों सम्प्रदायों का उदय एक ही समय में हुआ है, इसलिए हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि बुद्ध के समय में निर्ग्रन्थों का सम्प्रदाय नया नहीं था। पिटकों का भी यही मत जान पड़ता है, क्योंकि उनमें भी हमें किसी विपरीत मन्तव्य की सूचना नहीं मिलती।"[10] इससे हमारे इस तर्क को समर्थन मिलता है कि बुद्ध और महावीर के पहले जैन धर्म का अस्तित्व था।

जैन धर्म की प्राचीनता सम्बन्धी हमारी इस मान्यता की पुष्टि के लिए एक और महत्त्व का उल्लेख मिलता है। बुद्ध और महावीर के समकालीन उपदेशक गोशालक जिन छह अभिजातियों का उल्लेख करते हैं, उनमें में एक निगंठों की है। यदि गोशालक के समक्ष ही जैन सम्प्रदाय का जन्म हुआ होता, तो वे निश्चय ही निगंठों की एक प्रभावशाली अभिजाति स्वीकार नहीं करते।

इस संदर्भ में याकोबी महत्त्व का एक और मुद्दा प्रस्तुत करते हैं। उनके मतानुसार जैन धर्म के बारे में इस भ्रांति का कारण यह है कि जैन तथा बौद्ध दोनों ही धर्मों में कुछ समान शब्दों का व्यवहार होता है। बुद्ध और महावीर दोनों के लिए जिन, अर्हत्, महावीर, सर्वज्ञ, सुगत, तथागत, सिद्ध, बुद्ध, सम्बुद्ध, मुक्त इत्यादि अभिधानों का उपयोग हुआ है, यद्यपि जैन परम्परा में चौबीसवें तीर्थंकर के लिए सिर्फ कुछ ही शब्दों का इस्तेमाल हुआ है और बौद्ध परम्परा में कुछ अन्य शब्दों का।

अत: अनुमान यह लगाया जाता है कि जैनों ने ये शब्द बौद्धों से लिये हैं।

10. इं० ए०, IX, पृ० 161

परन्तु याकोबी का मत है कि, यह अनुमान न्यायसंगत नहीं है। यदि इन उपाधियों के इनके व्युत्पत्ति संगत अर्थों से परे कोई विशेष अर्थ रहे होते या इन्हें कोई विशेष महत्त्व प्राप्त हो गया होता, तो दो ही बातें होतीं—इन्हें स्वीकारा जाता या नकारा जाता। याकोबी के मतानुसार, यह बात असंभव है कि जिस शब्द को विशेष अर्थ प्राप्त हो चुका है (यहां हमारे संदर्भ में, बौद्धों के हाथों) उसे जैनों ने अपनाकर उसके मूल अर्थ में ही प्रयुक्त किया होगा।[11]

याकोबी आगे कहते हैं कि इससे जिस एकमात्र नतीजे पर हम पहुंचते हैं, वह यह है कि सभी कालों में महापुरुषों के लिए सम्माननीय विशेषणों एवं अभिधानों का व्यवहार होता रहा है। सभी सम्प्रदायों ने इन शब्दों का अपने मूल अर्थों में उपाधियों के लिए उपयोग किया है। कुछ शब्दों का धर्म-संस्थापकों के नामों के लिए भी इस्तेमाल हुआ है। शब्द का चुनाव या तो उसके उपयुक्त अर्थ के आधार पर हुआ है या अन्य परिस्थिति के अनुरूप। अतः बौद्ध तथा जैन धर्मों द्वारा अपनायी गई एक-सी शब्दावली के बारे में यही निष्कर्ष निकलता है कि शब्दों को अपनाने के मामले में बौद्ध और जैन एक-दूसरे के प्रतिद्वंद्वी थे।[12]

जैनों ने बौद्धों का 'अनुकरण' किया है, इस विवाद के समर्थन में दोनों धर्मों के बीच एक और समानता दरशायी गयी है। दोनों धर्मों के अनुयायी अपने 'भगवानों' की मंदिरों में मूर्तियां स्थापित करते हैं और उनकी पूजा करते हैं। इस संदर्भ में यह जानना जरूरी है कि जहां मूर्तियों को स्थापित करने की व्यवस्था जैन परम्परा के अनुरूप थी, वहां बौद्ध धर्म की मूल शिक्षाओं में इस व्यवस्था को नकारा गया है। अतः, किसी एक ने दूसरे का अनुकरण किया ही है, तो मूर्ति-स्थापना के मामले में जैनों ने बौद्धों का नहीं, बल्कि बौद्धों ने ही जैनों का अनुकरण किया होगा।

परन्तु सचाई यही है कि मूल बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध की मूर्तिपूजा के लिए मनाही है, और विशुद्ध जैन परम्परा भी मानव की मूर्तिपूजा का अनुमोदन नहीं करती। याकोबी कहते हैं कि जैन तथा बौद्ध धर्म की उत्पत्ति को सिद्ध करने के लिए उनके प्रवर्तकों की मूर्तिपूजा के प्रमाण देने की बजाय भारतवासियों की उच्चतर धार्मिक चेतना की ओर निर्देश करना ही उचित एवं न्यायसंगत होगा। उनका मत है कि सामान्यतः लोगों ने रूक्ष देवी-देवताओं एवं दानवों के स्थान पर एक उच्चतर धर्म की आवश्यकता महसूस की और भारत के धार्मिक विकास को भक्ति के रूप में मुक्ति का एक महान पंथ मिल गया। अतः बौद्धों को आविष्कर्ता

11. 'जैन सूत्राज', अनुवाद, (दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 1964), प्रथम भाग, भूमिका, पृ० xix-xx
12. वही, भूमिका, पृ० xx-xxi

और जैनों को अनुकर्त्ता समझने की बजाय यही मानना उचित होगा कि भारतीय जनता के धार्मिक विकास के अनवरत एवं अप्रतिहत प्रभाव के अन्तर्गत ही इन दोनों सम्प्रदायों ने स्वतंत्र रूप से इस प्रथा को अपनाया है।[13] इस प्रथा का श्रेय दोनों धर्मों के सामान्य अनुयायियों को दिया जाता है और इसमें भारतीय जनता की गहरी धार्मिक भावना ने निश्चय ही महत्त्व की भूमिका अदा की होगी।

यह बड़े संतोष की बात है कि दासगुप्त भी हमारे मत का समर्थन करते हैं। वे लिखते हैं : "इस नई व्यवस्था के मार्गदर्शकों को संभवतः यज्ञ धर्म तथा उपनिषदों से सुझाव मिले हैं और इन्होंने अपनी प्रणालियों का निर्माण स्वतन्त्र रूप से अपने ही यथोचित चिंतन से किया है।"[14] याकोबी का भी मत है : "बौद्ध और जैन धर्मों का विकास ब्राह्मण धर्म से हुआ है। धार्मिक जागरण से अकस्मात् इनका जन्म नहीं हुआ है, बल्कि लम्बे समय से चले आते धार्मिक आन्दोलन ने इनके लिए रास्ता तैयार किया है।"[15] यह एक रोचक बात है कि ईलियट जैसे विद्वान भी, जिनकी सहानुभूति जैन धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म के साथ अधिक है, इस मत का समर्थन करते हैं कि दोनों ही नास्तिक धर्मों के स्रोत ब्राह्मण धर्म में हैं। महत्त्व की बात यह है कि इन दोनों धर्मों की उत्पत्ति पर विचार करते हुए वह स्वीकार करते हैं कि जैन धर्म का जन्म पहले हुआ है, यद्यपि वह बौद्ध धर्म की विशेष स्तुति करते हैं। वह लिखते हैं : "दोनों धर्म एक ऐसे आन्दोलन से पैदा हुए हैं जो ईसा पूर्व छठी सदी में भारत के कुछ प्रदेशों में तथा प्रमुखतः उच्च वर्ग के बीच सक्रिय था। इन सम्प्रदायों में जिनमें से अनेक की जन्म होते ही मृत्यु हो गयी, जैन सम्प्रदाय थोड़ा अधिक प्राचीन है, परन्तु बौद्ध धर्म श्रेष्ठतर था और इसमें बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टि से अधिक आकर्षण था। उस समय प्रचलित धार्मिक प्रथाओं एवं सिद्धान्तों से गौतम ने एक खूबसूरत फूलदान का निर्माण किया, और महावीर ने एक उपयोगी तथा टिकाऊ घट का।[16]

वेबर ने लिखा है कि जैनों के पंचयाम (पंचमहाव्रत) और बौद्धों के पंचसंवर में अद्भुत समानता है। इसी प्रकार, विंडिश ने जैनों के महाव्रतों की तुलना बौद्धों के 'दस धर्माचरणों' से की है। इन समानताओं को देखते हुए हमें मानना पड़ता है कि एक सम्प्रदाय ने दूसरे का अनुकरण किया है, परन्तु यह बताना मुश्किल काम है कि ऋणी बौद्ध हैं या जैन।

विश्व इतिहास के काल-विभाजन के क्षेत्र में भी दोनों सम्प्रदायों में समानता

13. वही, भूमिका, पृ० xi
14. पूर्वोल्लिखित, खण्ड प्रथम, पृ० 120
15. 'जैन सूत्राज', प्रथम भाग, भूमिका, पृ० xxxii
16. पूर्वो०, खण्ड प्रथम, पृ० 122-123

है, इसलिए कभी-कभी कहा जाता है कि जैनों ने बौद्धों का अनुकरण किया है। परन्तु थोड़ा विचार करने से लगता है कि ऐसा संभव नहीं था। जैनों के कालचक्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह-छह आरे हैं। इस कालचक्र को बौद्धों के उस काल-विभाजन से प्राप्त करना असंभव है जिसमें चार महाकल्प और अस्सी लघुकल्प माने गये हैं। बौद्धों ने अपना यह कालचक्र ब्राह्मणी हिन्दू धर्म के युगों एवं कल्पों के आधार पर बनाया होगा। जैनों पर ब्रह्मा के अहोरात्र तथा मन्वन्तर के हिन्दू आख्यानों का प्रभाव पड़ा होगा। जो भी हो, जैन कालचक्र बौद्धों से प्रभावित नहीं जान पड़ता।

दोनों ही सम्प्रदाय अपने कुछ विचारों के लिए हिन्दू धर्म के ऋणी हैं, इस बात से पूर्णत: इनकार नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, **बौधायन धर्मसूत्र** में दिये गये पंचव्रत हैं : अहिंसा, सूनृता, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनमें से प्रथम चार व्रत वही हैं जिनका कि जैन साधुओं को पालन करना पड़ता है और इनका क्रम भी उसी प्रकार है। बौद्ध भिक्षुओं को भी इन्हीं शीलों का पालन करना पड़ता है, परन्तु उनकी सूची में दूसरे स्थान पर सत्य नहीं है। मैक्स-मूलर, बूलर तथा केर्न ने इन तीनों महान धर्मों के साहित्य में उपलब्ध संन्यासियों के कर्तव्यों की तुलनात्मक छानबीन की है, और वे भी इसी परिणाम पर पहुंचे हैं।

हिन्दुओं के संन्यास-धर्म अथवा उनके संन्यासियों के कर्तव्य और बौद्ध तथा जैन भिक्षुओं के लिए निर्धारित व्रतों में जो अद्भुत समानता है, उससे यही परि-णाम निकलता है कि भिक्षु संघ के लिए नियम बनाते समय जैनों ने बौद्धों का अनुकरण नहीं किया है। एक तरफ हम हिन्दू संन्यास-धर्म तथा जैन सम्प्रदाय के नियमों में समानता देखते हैं, तो दूसरी तरफ हिन्दू संन्यासियों तथा बौद्ध भिक्षुओं के लिए निर्धारित नियमों में कुछ अंतर भी देखते हैं। इन सबूतों से हमारी इस मान्यता को समर्थन मिलता है कि जैन सम्प्रदाय मात्र बौद्ध सम्प्रदाय की एक शाखा नहीं था। यहां हम हिन्दुओं के संन्यास-धर्म तथा जैन सम्प्रदाय के बीच की कुछ अद्भुत समानताओं का उल्लेख करेंगे। चूंकि हिन्दू परम्परा की प्राचीनता निर्विवाद है, और बुद्ध अपने सम्प्रदाय के संस्थापक एवं महावीर के समकालीन थे, और चूंकि महावीर अपने सम्प्रदाय के केवल एक सुधारक थे, इसलिए विद्वान इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि यदि हमें 'ऋण' की ही चर्चा करनी है, तो संभव यही है कि जैन सम्प्रदाय बौद्ध सम्प्रदाय का ऋणी न होकर ये दोनों ही सम्प्रदाय हिन्दू धर्म के ऋणी हैं। संन्यासियों के लिए निर्धारित कुछ नियम नीचे दिये जा रहे हैं :

'संन्यासी को अपने पास कुछ भी एकत्र नहीं करना चाहिए।''[17] जैन तथा

17. 'गौतम' : III.11; तुलनीय—'बौधायन' : II, 6, 11, 16

बौद्ध सम्प्रदायों के भिक्षुओं के लिए भी नियम है कि वे अपने पास ऐसा कुछ न रखें जिसे वे 'व्यक्तिगत' कह सकें।

"संन्यासी को ब्रह्मचारी होना चाहिए।"[18] जैन सम्प्रदाय का चौथा महाव्रत भी ठीक यही है। बौद्धों का यह पांचवां शील है।

"संन्यासी को वर्षाकाल में अपना निवास नहीं बदलना चाहिए।"[19] यह नियम हमें अन्य दोनों सम्प्रदायों में देखने को मिलता है।

"संन्यासी अपनी वाचा, दृष्टि तथा कर्म पर संयम रखेगा।"[20] यहां हमें जैनों की तीन गुप्तियों का स्मरण हो आता है।

"संन्यासी पेड़-पौधों के उन्हीं अंशों को ग्रहण करेगा जो अपने-आप अलग हो गये हैं।"[21] कुछ इसी तरह का नियम जैन सम्प्रदाय में भी है। जैन मुनि केवल उन्हीं साग-सब्जियों तथा फलों आदि का सेवन कर सकते हैं जिनमें जीवन का कोई अंश न हो।[22]

"संन्यासी बीजों का नाश नहीं करेगा।"[23] जैन सम्प्रदाय ने इस नियम में सभी जीवित प्राणियों का समावेश कर लिया है और अपने अनुयायियों को उपदेश दिया है कि वे अण्डों, जीवित प्राणियों, बीजों, अंकुरों आदि को चोट न पहुंचायें।

"संन्यासी का कोई बुरा करे या भला, उसे विरक्त बने रहना चाहिए।"[24] जैन सम्प्रदाय में भी इस विरक्त भाव को महत्त्व दिया गया है, यह बात महावीर के जीवन के एक प्रसंग से स्पष्ट होती है : "चार से भी अधिक महीने तक उनके शरीर पर नाना तरह के प्राणी एकत्र हुए, रेंगते रहे और उन्हें पीड़ा पहुंचाते रहे।"[25]

"संन्यासी को जल छानने के लिए अपने पास एक वस्त्र रखना चाहिए।"[26]

समापन के पहले यहां हम एक ऐसे विद्वान का उल्लेख करना चाहेंगे जिन्होंने जैन धर्म का गहन अध्ययन करने के अनन्तर अपने विचार बदले हैं। वाशबर्न हॉपकिन्स ने आरंभ में जैन धर्म की बड़ी कटु समीक्षा की है। उन्होंने लिखा कि

18. 'गौतम' : III.12
19. वही, III.13; तुल०—'बौधायन' : II, 6, 11, 20
20. वही, III. 17
21. वही, III. 20
22. 'आचारांग', II. 1.7.6
23. 'गौतम' : III. 23
24. 'गौतम' : III. 24
25. 'आचारांग', I. 8. 1, 2
26. 'बौधायन' : II, 6, 11, 14

भारत के महान धर्मों में से नातपुत्त के धर्म में सबसे कम आकर्षण है और इसकी कोई उपयोगिता नहीं है, क्योंकि इसकी मुख्य बातें हैं—ईश्वर को नकारना, आदमी की पूजा करना और कीड़ों को पालना। बाद में जैन धर्म के बारे में अपनी अधूरी जानकारी के बारे में उन्होंने खेद व्यक्त किया। एक पत्र में उन्होंने श्री विजय सूरि को लिखा : "मैंने अब महसूस किया है कि जैनों का आचार धर्म स्तुति योग्य है। मुझे अब खेद होता है कि पहले मैंने इस धर्म के दोष दिखाये थे और कहा था कि ईश्वर को नकारना, आदमी की पूजा करना तथा कीड़ों को पालना ही इस धर्म की प्रमुख बातें हैं। तब मैंने नहीं सोचा था कि लोगों के चरित्र एवं सदाचार पर इस धर्म का कितना बड़ा प्रभाव है। अक्सर यह होता है कि किसी धर्म की पुस्तकें पढ़ने से हमें उसके बारे में वस्तुनिष्ठ ही जानकारी मिलती है, परन्तु नजदीक से अध्ययन करने पर उसके उपयोगी पक्ष की भी हमें जानकारी मिलती है और उसके बारे में अधिक अच्छी राय बनती है।"[27]

अतः यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म के इतिहास की वस्तुनिष्ठ खोज-बीन से इस मत का अनुमोदन नहीं होता कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से निकला है और फिर इसका स्वतंत्र विकास हुआ है। हमने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए—इसे पीछे मानव-जाति की उत्पत्ति तक ले जाने के लिए,—कोई निर्विवाद ऐतिहासिक प्रमाण न होने पर भी हमें यह स्वीकार करना होगा कि जैन धर्म बौद्ध धर्म की मात्र एक शाखा नहीं है, बल्कि इसका जन्म पहले हुआ है।

27. सी० जे० शाह द्वारा उद्धृत, पूर्वो, भूमिका, पृ० xix-xx

महावीर के पहले जैन धर्म 2

जैन धर्म के बारे में जो कई भ्रांतियां हैं, उनमें से एक यह है कि महावीर इस धर्म के संस्थापक थे। परन्तु विद्वानों ने गहरी खोजबीन करके दर्शाया है कि महावीर के पहले भी जैन धर्म का अस्तित्व था, यद्यपि यह बताना कठिन है कि इस धर्म का जन्म ठीक किस समय हुआ। सी० जे० शाह लिखते हैं : "जैन धर्म के जन्म का समय निर्धारित करना कठिन ही नहीं, असंभव है। परन्तु आधुनिक अन्वेषण ने अब हमें एक ऐसे स्थान पर पहुंचा दिया है जहां से घोषणा करते हुए हम कह सकते हैं कि जैन धर्म को बौद्ध या ब्राह्मण धर्म की एक शाखा सिद्ध करने वाले विचार गलत थे, अज्ञान पर आधारित थे...। वस्तुतः अब हम अनुसंधान के क्षेत्र में एक कदम और आगे बढ़ गये हैं। अब बिना किसी नये पुष्ट प्रमाण के यह कहना कि जैन धर्म का उदय महावीर के साथ हुआ है, एक ऐतिहासिक भ्रांति ही कहलायेगा। क्योंकि अब यह एक मान्य तथ्य है कि जैनों के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व एक ऐतिहासिक पुरुष थे, और जिन-पुरुष महावीर तीर्थंकरों की महत्मंडली में मात्र एक धर्म-सुधारक थे।"[1]

अतः स्पष्ट है कि यदि हम महावीर को जैन धर्म का संस्थापक मानते हैं तो फिर इस धर्म की प्राचीनता को स्वीकार करने में कठिनाई होती है। जैनों की मान्यता है कि उनका धर्म अनादि-अनन्त काल से चला आ रहा है और प्रत्येक युग में चौबीस तीर्थंकरों ने इसका उपदेशन किया है। वर्तमान युग के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ माने जाते हैं और अंतिम तीर्थंकर महावीर।[2] अतः, जैन परम्परा के अनुसार ही, महावीर एक ऐसे धर्म-सुधारक थे जिन्होंने गलत रास्ते पर जा रही जनता के लिए कुछ नैतिक नियमों की नये सिरे से व्याख्या की और उनमें नये प्राण फूंके।

1. पूर्वो०. पृ० 2
2. जैन परम्परा के अनुसार, हमारे युग के अन्य बाईस (दूसरे से तेईसवें तक) तीर्थंकर हैं : अजित, संभव, अभिनंदन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदंत या सुविधि, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि या अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ।

जैन धर्म ग्रन्थों में हमें सभी चौबीस तीर्थंकरों के नाम उसी क्रम से मिलते हैं जिस क्रम से वे हुए हैं, और उनके जीवन-काल के बारे में भी जानकारी मिलती है। मान्यता है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभ 84,00,300 वर्ष जीवित रहे[3], बाईसवें तीर्थंकर नेमि 1000 वर्ष, तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व 100 वर्ष और चौबीसवें तीर्थंकर महावीर 72 वर्ष जीवित रहे।[4]

यद्यपि याकोबी तथा अन्य कुछ विद्वान प्रथम तीर्थंकर ऋषभ को कुछ हद तक एक ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं और जैन लोग अपनी प्राचीनतम धर्म-पुस्तक पूर्व को ऋषभ के समय की कृति मानते हैं, परन्तु इतिहास के विद्वान केवल अंतिम दो तीर्थंकरों—पार्श्व व महावीर—की ऐतिहासिकता सिद्ध कर पाते हैं। उदाहरण के लिए, लास्सेन पार्श्व के बारे में लिखते हैं : "ये जिन एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, यह बात इस उल्लेख से प्रामाणित होती है कि पहले के तीर्थंकरों की तरह इनका जीवन-काल मानव के जीवन-काल की संभावित सीमा के परे नहीं है।"[5] जब हम इस तथ्य पर गौर करते हैं कि भारत पर सिकंदर के हमले के समय से ही भारतीय इतिहास की तिथियों का निर्धारण संभव हुआ है और पार्श्व के पहले के काल के बारे में इतिहासज्ञों को प्रामाणिक जानकारी नहीं मिली है, तो केवल पार्श्व व महावीर की ऐतिहासिकता को ही स्वीकार किया जा सकता है।

यद्यपि पार्श्व के बारे में भी प्रत्यक्ष ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिले हैं, फिर भी कुछ उल्लेख हैं। मथुरा से कुछ ऐसे अभिलेख मिले हैं जिनमें ऋषभ तथा कुछ अन्य तीर्थंकरों की पूजा-अर्चना के उल्लेख हैं। इनमें से महत्त्व के तीन अभिलेखों का आशय है : (1) ऋषभदेव प्रसन्न हो;[6] (2) अर्हतों की अर्चना;[7] (3) अर्हत वर्धमान की अर्चना![8] इनके महत्त्व के बारे में कनिंघम ने लिखा है : "इन अभिलेखों से प्राप्त जानकारी प्राचीन भारत के इतिहास के लिए अत्यन्त महत्त्व की है। सबका प्रायः एक ही आशय है—कुछ व्यक्तियों द्वारा धर्म की अभिवृद्धि के लिए और उनके तथा उनके माता-पिता के कल्याण के लिए दिये गये दानों को लेखबद्ध करना। परन्तु इन अभिलेखों में सिर्फ इतनी ही जानकारी रही होती तो इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। वस्तुस्थिति यह है कि मथुरा के इन लेखों में से अधिकांश में दाताओं ने तत्कालीन शासकों के नाम तथा दान के समय की

3. एक 'पूर्व' वर्ष को 7,05,60,00,00,00,000 वर्षों के बराबर माना जाता है
4. 'कल्प-सूत्र', 227, 182, 168 व 147
5. इं॰ ए॰, II, पृ॰ 261
6. एपिग्राफिका इंडिका, I. 386, अभिलेख VIII
7. वही, I, 383, अभि॰ III
8. वही, I, 396, अभि॰ VIII

संवत् तिथियां अंकित कर दी हैं। यह जानकारी इतिहास की लुप्त कड़ियों को जोड़ने के लिए बड़ी उपयोगी है···।''[9] हमारे दृष्टिकोण से यह अभिलेख जैन धर्म के अतिप्राचीन उद्‌गम तथा कई तीर्थंकरों की क्रमिकता पर प्रकाश डालते हैं।

कल्प-सूत्र[10] तथा अन्य जैन ग्रंथ जानकारी देते हैं कि मोक्ष प्राप्ति के पहले पार्श्वनाथ हजारीबाग जिले की एक पहाड़ी पर पहुंचे थे। यह स्थान 'पारसनाथ पहाड़ी' के नाम से प्रसिद्ध है और पार्श्व की ऐतिहासिकता के लिए एक प्रकार का स्मारकीय सबूत है।

जैन ग्रंथों में पार्श्व के बारे में तथा सामान्यतः जैनों के बारे में जो कई उल्लेख मिलते हैं, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कम-से-कम पार्श्व की ऐतिहासिकता से इनकार नहीं किया जा सकता और जैन धर्म महावीर से निश्चय ही अधिक प्राचीन था। इस संदर्भ में यहां हम कुछ उल्लेख प्रस्तुत करते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में पार्श्व की परम्परा के अनुयायी (पार्श्वापत्यिक) केशी और महावीर के अनुयायी गौतम के मिलने की तथा दोनों के बीच हुए संवाद की जानकारी है।[11] यह संवाद दोनों परम्पराओं के आचार-विचार सम्बन्धी मतभेदों को लेकर हुआ था, और कहा गया है कि इसमें अन्त में केशी ने गौतम के मत को स्वीकार कर लिया।[12] हम जानते हैं कि पार्श्व ने चार यामों यानी महाव्रतों का उपदेश दिया था और महावीर ने पांच यामों का।[13]

विष्णु पुराण, महाभारत तथा मनुस्मृति जैसे प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों में भी हमें जैनों के उल्लेख मिलते हैं। यहां हमें इस बात से सरोकार नहीं है कि जैनों का उल्लेख करनेवाले ये ग्रन्थ कितने प्राचीन हैं; हमारे लिए (और जैन धर्म की उत्पत्ति की खोजबीन करनेवाले विद्वानों के लिए) महत्त्व की बात यही है कि इनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभ के नाम के उल्लेख पाये जाते हैं। विष्णु पुराण के अपने अनुवाद में विलसन लिखते हैं : ''नाभिराज को रानी मरुदेवी से ऋषभ नाम के एक महामना पुत्र हुए। ऋषभ के सौ पुत्र थे, जिनमें भरत ज्येष्ठ थे। समभाव तथा कुशलता से राज्य करने के बाद और कई यज्ञ करने के बाद, ऋषभ ने वीर भरत को राज्य सौंप दिया—।''[14] भागवत-पुराण पर एक टिप्पणी में विलसन ने लिखा है : ''इस ग्रन्थ में ऋषभ के तपश्चरण तथा उनके जीवन की अन्य घटनाओं के बारे में ऐसी जानकारी मिलती है जो अन्य पुराणों में उपलब्ध

9. 'आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोर्ट्स', खण्ड तीन, पृ० 38-39
10. 168
11. XXIII. 9
12. XXIII. 29
13. XXIII. 12
14. पृ० 163

नहीं है। इनमें रोचक घटनाएं वे हैं जिनमें ऋषभ की कोंक, वेंकट, कुटक तथा दक्षिण कर्नाटक प्रदेशों की यात्राओं की और इन प्रदेशों के लोगों द्वारा जैन धर्म अपनाने की बातें हैं।"[15] पुराणों के ऐतिहासिक महत्त्व के बारे में बूलर लिखते हैं—"हमें विशेष रूप से यह स्वीकार करना होगा कि सबसे प्राचीन ही नहीं बल्कि बाद की कथाओं में भी जिन व्यक्तियों का उल्लेख आता है वे ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। यद्यपि अक्सर यह होता है कि ये व्यक्ति जिस काल के थे उस काल के न दरशाकर पहले के या बाद के दरशाये गये हैं और इनके बारे में बड़ी ही बेतुकी कथाएं कही गयी हैं। फिर भी ऐसी कोई घटना नहीं है जिसमें आये हुए किसी व्यक्ति के नाम के बारे में हम दावे के साथ यह कह सकें कि यह केवल कल्पना पर आधारित है। विपरीत, नये प्रकाश में आ रहे अभिलेखों, हस्तलेखों और ऐतिहासिक ग्रन्थों से पुराणों में वर्णित किसी-न-किसी व्यक्ति के वस्तुतः होने का समर्थन होता है। इसी प्रकार, पुराणों में दी गयी सभी यथार्थ तिथियों पर भी विशेष ध्यान देना जरूरी है। यदि एक-दूसरे से भिन्न दो पुराणों में समान तिथियां मिलती हैं, तो उन्हें बिना किसी संदेह के ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य मान लेना चाहिए।"[16] हमारे संदर्भ में इस सबका आशय है कि कम-से-कम अन्तिम दो तीर्थंकरों के बारे में हमें, ऐतिहासिक प्रमाणों के अलावा, पुराणों से भी ऐतिहासिक उल्लेख मिलते हैं।

कोलब्रूक, स्टीवेन्सन, एडवर्ड थॉमस तथा चार्ल खारपेंटिएर जैसे आधुनिक विद्वानों का भी यही मत है कि जैन धर्म महावीर से अधिक प्राचीन है। खारपेंटिएर लिखते हैं : "हमें ये दो बातें स्मरण रखनी चाहिए कि जैन धर्म महावीर से निश्चय ही प्राचीन है, क्योंकि उनके पहले के तीर्थंकर पार्श्व एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, और इसलिए मूल धर्म के आचार-विचार महावीर के काफी पहले अस्तित्व में आ गये होंगे।"[17] इसी प्रकार दासगुप्त लिखते हैं : "उत्तराध्ययन की इस कथा से कि पार्श्व के एक शिष्य और महावीर के एक शिष्य की भेंट हुई और पुराने जैन धर्म तथा महावीर के नये धर्म का मेल हुआ, यह स्पष्ट होता है कि पार्श्व एक ऐतिहासिक पुरुष थे।"[18] इन सभी बातों से सिद्ध हो जाता है कि जैन धर्म कम-से-कम महावीर से तो प्राचीन है ही।

15. वही, पृ० 164
16. यूबेर द लेबेन देस् जैन-मोन्चेस् हेमचन्द्र (जैन-मुनि हेमचन्द्र के जीवन के बारे में), पृ० 6, सी० जे० शाह द्वारा उद्धृत, पूर्वो० पृ० 191-192
17. देखिये, 'उत्तराध्ययन-सूत्र' की भूमिका, पृ० 21
18. पूर्वो०, खण्ड प्रथम, पृ० 169

पार्श्व और महावीर 3

पार्श्व और महावीर की ऐतिहासिकता लगभग सिद्ध है। अब हमें यह जानना है कि महावीर ने पार्श्व के उपदेशों को किस हद तक बदला है। पार्श्व तेईसवें तीर्थंकर थे और महावीर चौबीसवें, यह अब सिद्ध हो चुका है; फिर भी इन दोनों की तिथियों के बारे में विद्वानों में अब भी मतभेद है। एक मत यह है कि पार्श्व का जन्म लगभग 872 ई० पू० में हुआ था और 772 ई० पू० के आसपास उन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ, और महावीर 598 ई० पू० में पैदा हुए और 526 ई० पू० में उनका देहावसान हुआ। दूसरे मत के अनुसार, पार्श्व 817 ई० पू० में पैदा हुए और महावीर 599 ई० पू० में।

जैन साहित्य में पार्श्व तथा महावीर के मतों की भिन्नता के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। **भगवती सूत्र** में पार्श्व के चार यामों में और महावीर के पांच यामों में भेद किया गया है। प्रसंग यह है कि एक बार पार्श्व के एक अनुयायी (पार्श्वापत्यिक) और महावीर के एक अनुयायी के बीच वाद-विवाद होता है। अन्त में पार्श्व का अनुयायी चातुर्याम के स्थान पर महावीर के संशोधित पंचयामों को स्वीकार करता है और महावीर के संघ में शामिल होने की इच्छा व्यक्त करता है।[1]

याकोबी ने इस अन्तर के लिए बौद्ध ग्रन्थ **सामञ्ञफलसुत्त** में भी सबूत खोजा है। **चातु-याम-संवरसंवुतो** नामक सूत्र के बारे में लिखते हुए वे कहते हैं : "इसका सम्बन्ध महावीर के पहले के तीर्थंकर पार्श्व के चातुर्याम धर्म से है और महावीर के संशोधित पंचयाम धर्म से इसका भेद स्पष्ट हो जाता है।"[2] पंचयाम यानी पांच महाव्रत ये हैं—अहिंसा, सूनृता, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। पार्श्व के चातुर्याम में ब्रह्मचर्य का समावेश अपरिग्रह के अंतर्गत होता था।

महावीर के पंचयाम धर्म का स्पष्ट उल्लेख **आचारांग** में भी मिलता है।[3] इसी प्रकार, **उत्तराध्ययन** में भी पार्श्व के चातुर्याम और महावीर के पंचयाम के

1. I. 76
2. इ० ए०, IX, पृ० 160
3. II, 15, 29

बारे में उल्लेख मिलते हैं।[4] उत्तराध्ययन में उल्लिखित 'दो रूपों' के बारे में याकोबी का मत है—"ग्रन्थ में वर्णित वाद-विवाद से पता चलता है कि पार्श्व और महावीर के बीच के काल में श्रमण संघ के आचरण-धर्म में शिथिलता आ गयी थी। क्योंकि पार्श्व के बाद काफी समय गुजर जाने पर ही ऐसा होना संभव था, इसलिए यह परम्परा सही जान पड़ती है कि महावीर पार्श्व के 250 वर्ष बाद हुए।"[5]

व्रतों की सूची में ब्रह्मचर्य का समावेश करने के बारे में याकोबी का जो मत है, उसे सामान्यतः स्वीकार कर लिया जाता है। परन्तु यह भी एक मत है कि जैनों के आजीवक सम्प्रदाय के संस्थापक गोशाल, जो कि महावीर के एक शिष्य थे, दुराचारी बन गये थे और उनके जीवन-काल में ही जैन धर्म की आलोचना करने लग गये थे, इसलिए महावीर ने व्रतों की सूची में विशेष रूप से ब्रह्मचर्य का समावेश किया। यह भी एक मत है कि महावीर द्वारा जोड़ा गया नया व्रत ब्रह्मचर्य नहीं बल्कि अपरिग्रह है, और महावीर अवसन विचरण करते थे। इस मतवालों का कहना है कि, महावीर ने यह अनुभव किया कि वस्त्रों के बन्धन से मुक्त होने के बाद ही तपस्वी तृष्णाओं से मुक्ति पा सकता है। अपरिग्रह का अर्थ है—घर और सगे-सम्बन्धियों का त्याग करना, और अपनी जीविका के लिए भी पास कुछ न रखना। एक और मत यह भी है कि महावीर ने ब्रह्मचर्य के साथ-साथ अपरिग्रह पर भी विशेष बल दिया। जैसे, उमेश मिश्र ने लिखा है: "महावीर ने ब्रह्मचर्य का समावेश तपस्वियों के लिए भी किया। वे समझते थे कि तपस्वी को अपनी इंद्रियों एवं वृत्तियों पर पूरी तरह काबू पा लेना चाहिए और इस संसार में पूर्णतः निर्लिप्त रहना चाहिए, और इसलिए अपने वस्त्र भी त्याग देने चाहिए। महावीर का संभवतः यह मत था कि तपस्वी जब तक वस्त्रों के बन्धन से मुक्त नहीं हो जाता, तब तक वह सही माने में निर्लिप्त नहीं हो सकता।"[6]

जैन ग्रन्थों में यद्यपि पार्श्व और महावीर के मतों के बीच के अन्तर के बारे में उल्लेख मिलते हैं, परन्तु यह बात महत्त्व की है कि उत्तराध्ययन के अनुसार दोनों मतों में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। प्रसंग है कि पार्श्वापत्यिक केशी महावीर के एक शिष्य सुधर्म-गौतम से पंचव्रत धर्म की विशेषता के बारे में जानना चाहते हैं। वह पूछते हैं: "दोनों धर्मों का उद्देश्य एक ही है, तो फिर यह अन्तर क्यों?

4. XXIII, 23 व 16
5. देखिये 'उत्तराध्ययन' का उनका अनुवाद, XXIII, 26 की पादटिप्पणी
6. 'हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी' (इलाहाबाद : तिरभुक्ति पब्लिकेशन्स, 1957), खण्ड प्रथम, पृ० 230

हे महामति, क्या आपको इन दो धर्मों में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता ?"[7] गौतम ने उत्तर दिया : "पार्श्वनाथ अपने समय को भलीभांति समझते थे, इसलिए अपने युग के लोगों के लिए उन्होंने चातुर्याम का उपदेश दिया। अपने समय के लोगों के लिए जैन धर्म अधिक उपयोगी सिद्ध हो, इसलिए महावीर ने उन्हीं चार यामों को पांच यामों के रूप में प्रस्तुत किया। वस्तुतः दोनों तीर्थंकरों के उपदेशों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है।"[8]

महावीर ने ठीक किस नये व्रत की स्थापना की, इस प्रश्न पर कभी-कभी श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदायों के बीच के सचेल-अचेल के वाद-विवाद के संदर्भ में भी विचार किया जाता है। एक मत यह है कि महावीर धर्मसुधारक थे, इसलिए उन्होंने तपस्वियों के 'दिगम्बर' रहने का विरोध किया। दूसरा मत[9] यह है कि उन्होंने ही अपरिग्रह के व्रत की स्थापना की और इसके कठोर पालन पर विशेष बल दिया। परन्तु जब हम इस बात पर सोचते हैं कि महावीर ने स्त्रियों को भी यही व्रत लेने की अनुमति दी थी, जब कि दिगम्बर सम्प्रदाय का मत था कि स्त्रियों को निर्वाण प्राप्ति नहीं हो सकती, इसके लिए पहले उन्हें पुरुष रूप में जन्म लेना होगा, तो लगता है कि इन दो मतों में पहला मत ही सही है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में आचरण की दृष्टि से काफी अन्तर है, परन्तु प्रायः सभी यह स्वीकार करते हैं कि तत्त्वदृष्टि से दोनों में विशेष अन्तर नहीं है। और, महावीर ने अपने युग की बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप पार्श्व के उपदेशों में परिवर्तन भी किया। अतः इन बातों से यही सही जान पड़ता है कि महावीर ने अपरिग्रह के व्रत को इतना कठोर नहीं बनाया। जैन साहित्य से जानकारी मिलती है कि महावीर के समय में नैतिक आचरण में शिथिलता आ गयी थी और इसके बारे में वे बड़े चिंतातुर थे, इसलिए हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि उनके द्वारा जोड़ा गया पांचवां व्रत अपरिग्रह नहीं बल्कि ब्रह्मचर्य है।

अन्त में, दोनों तीर्थंकरों के बीच की एक और समानता का उल्लेख करना जरूरी है। यह समानता संघ के संगठन के बारे में है। दोनों इस बात से सहमत थे कि भिक्षु तथा भिक्षुणी और गृहस्थ तथा गृहिणी दोनों का संघ में समावेश

7. XXIII. 24
8. वही, XXIII-23-31
9. उमेश मिश्र, पूर्वो०, पृ० 230। इस विद्वान का भी यही मत है कि महावीर ने नैतिक आचरण को सर्वाधिक महत्त्व दिया। "उनका मत था कि परम सत्य की प्राप्ति के लिए सम्यक् आचरणों का कठोरता से पालन करते हुए शरीर व मन को शुद्ध रखना अत्यन्त जरूरी है।" (वही, पृ० 231)

होता है। परन्तु महावीर ने सामान्य गृहस्थ और बारह व्रतों को अंगीकार करने वाले गृहस्थ में भेद किया। इन दो प्रकार के गृहस्थों को क्रमश: श्रावक और श्रमणोपासक कहा गया है। श्रावक को जैन धर्म के प्रति केवल अपनी श्रद्धा तथा भक्ति व्यक्त करनी होती थी; परन्तु श्रमणोपासक को पांच अनुव्रत तथा सात शीलव्रत अंगीकार करने होते थे, और इस प्रकार उसे अपनी मान्यताओं तथा आकांक्षाओं के बारे में कुछ 'सीमाएं' स्वीकार करनी होती थीं। पांच महाव्रत मुनियों के लिए थे।

दोनों तीर्थंकरों में ये सब असमानताएं होने पर भी हम देखते हैं कि उनके आचार धर्मों में बड़ी समानता थी और इससे इस मत का अनुमोदन होता है कि महावीर एक नये सम्प्रदाय के संस्थापक नहीं थे, उन्होंने केवल पहले के तीर्थंकरों की परम्परा को सात्त्विक एवं श्रद्धा भाव से आगे बढ़ाने का ही कार्य किया है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर 4

जैनों के दो प्रमुख सम्प्रदाय हैं : श्वेताम्बर और दिगम्बर। व्यापक दृष्टि से इन दोनों सम्प्रदायों के तात्त्विक चिंतन में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। यह इसी से जाहिर है कि दोनों सम्प्रदाय तत्त्वार्थाधिगम सूत्र को एक अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। इस ग्रन्थ के रचयिता संभवत: कोई श्वेताम्बर अनुयायी थे, परन्तु दिगम्बर भी इसे अपना एक प्रमुख ग्रन्थ मानते हैं। फिर भी, एक गैर-जैन जब दिगम्बरों के शुचिपूर्ण आचरण को देखता है, तो उसे लगता है कि श्वेताम्बरों तथा दिगम्बरों में अवश्य ही कोई मौलिक भेद है। वस्तुत: दोनों में बहुत ही कम अन्तर है, यह बात प्रकरण के अन्त में स्पष्ट हो जायगी। इस संदर्भ में एक श्वेताम्बर अनुयायी का एक दिलचस्प कथन है : "जैनों में हम 'कैथोलिक' हैं, तो दिगम्बर 'प्यूरीटन'।"[1] इससे दोनों की चरम सीमाएं, कम-से-कम दिगम्बरों के बाह्य स्वरूप के बारे में, स्पष्ट हो जाती हैं।

दिगम्बरों के लिए आकाश ही वस्त्र है (यहां दिक् का अर्थ है आकाश, और अम्बर का अर्थ है वस्त्र)। निर्वसन रहकर दुनिया को वे यही दिखाना चाहते थे कि उनका सम्बन्ध किसी वर्ग या कौम विशेष से न होकर सारी मानवता से है और इसलिए उन्होंने सम्बन्ध-सूचक इस अन्तिम चिह्न वस्त्र का भी त्याग कर दिया है।

ज़िम्मेर ने धर्म के बारे में जो एक सामान्य बात कही है, उससे हमें यह समझने में मदद मिलती है कि दिगम्बरों ने निर्लिप्त बने रहने पर इतना बल क्यों दिया। वे लिखते हैं : "यह आशा की जाती है कि धर्म हमें अन्त में सांसारिक जीवन की आकांक्षाओं एवं विपदाओं और महत्त्वाकांक्षाओं एवं बाधाओं से मुक्ति दिलायेगा···क्योंकि धर्म आत्मा की मांग करता है। परन्तु धर्म एक सामाजिक प्रपंच है, इसलिए यह बन्धन का एक साधन भी है...। जो कोई भी अपने समाज के जबरदस्त मोह-बन्धन से मुक्त होना चाहता है उसे धार्मिक समाज से अपने को अलग करना होगा। इसके लिए एक पुरातन उपाय है—

1. देखिये 'इन्साइक्लोपिडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स', खण्ड 22, पृ० 123

भिक्षु बन जाना, सामान्य मानवीय बन्धनों से अपनी रक्षा करने के लिए एकान्त का पुजारी बनना।"[2]

भारत पर सिकंदर के हमले के समय (327-326 ई० पू०) देश में दिगम्बरों का अच्छा-खासा समुदाय था। यूनानी इतिहासकारों ने इन्हें 'जिम्नोसोफिस्ट' यानी नग्न दार्शनिक कहा है। दिगम्बर सम्प्रदाय संभवत: ईसा की दसवीं सदी तक टिका रहा। फिर मुस्लिम शासकों ने उनके नंगे रहने पर रोक लगा दी।

श्वेताम्बर 'श्वेत वस्त्रधारी' होते हैं और ये श्वेत वस्त्र उनकी पवित्रता सम्बन्धी धारणा के द्योतक हैं। इससे उनका सार्वलौकिक दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। जैन परम्परा से अधिक अलग न जाकर उन्होंने शिष्टता का विशेष ख्याल रखा। एक मत यह है कि जैन धर्म में इस स्वस्थ परम्परा का आगमन महावीर के प्रयास से हुआ और उन्होंने स्त्रियों को भी संघ में शामिल होने की अनुमति दे दी। परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि महावीर 'जिम्नोसोफिस्ट' थे। यदि यह मत सच है, तो फिर हमें यह समझने में कठिनाई होती है कि उन्होंने जैन परम्परा में सुधार कैसे किया; क्योंकि दिगम्बरों की कट्टर मान्यताओं में से एक यह है कि स्त्रियों को संघ में प्रवेश नहीं मिलना चाहिए, और महावीर उनको प्रवेश दिलाने का समर्थन करते हैं।

यह निश्चित जान पड़ता है कि महावीर के समय में भी इन दोनों सम्प्रदायों का अस्तित्व था और उन्होंने किसी तरह इन दोनों को एकत्र बनाये रखा। दोनों का पृथक्करण काफी बाद में हुआ। झिम्मेर जैसे कुछ विद्वानों ने इस प्रश्न पर भी विचार किया है कि दोनों सम्प्रदायों में से किसका उदय पहले हुआ है। परन्तु हमारे लिए यही जानना उपयोगी होगा कि इनमें फूट कब और कैसे पड़ी, क्योंकि यह सर्वमान्य है कि दोनों सम्प्रदाय जैन धर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। अत: अधिक संभव यही है कि किसी भी सामाजिक संस्था में अन्तर्निहित जो विभाजक शक्तियां होती हैं, उन्हीं से जैन समाज भी प्रभावित हुआ है। जैन धर्म में इस फूट के बारे में कई मत हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार इस फूट के दो कारण हो सकते हैं। पहला कारण यह बताया जाता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में (310 ई० पू० के आसपास) मगध देश में बारह साल का अकाल पड़ा था। इस अकाल से बचने के लिए बारह हजार भिक्षु भद्रबाहु के नेतृत्व में दक्षिण भारत चले गये, परन्तु नग्न रहने के नियम पालन करते रहे। भद्रबाहु की अनुपस्थिति में स्थूलभद्र उत्तर

2. 'फिलॉसफीज ऑफ इंडिया' (लंदन : रटलेज एण्ड केगान पॉल, 1953), पृ० 158-159

भारत में संघ-प्रमुख बने, तो उन्होंने इस नियम में ढील दी और दोनों सम्प्रदायों के भिक्षुओं को वस्त्र धारण करने की अनुमति दे दी। जब भद्रबाहु लौट आए और पुनः संघ-प्रमुख बने, तो कुछ भिक्षुओं को भी 'दिगम्बर' बनाने में उन्हें सफलता नहीं मिली। इससे भद्रबाहु चिंतित थे। दूसरी बात यह है कि भद्रबाहु जब मगध से अनुपस्थित थे, तो धर्म ग्रन्थों का संकलन एवं संपादन करने के लिए स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में एक संघ-सम्मेलन का आयोजन कराया था। वह सम्मेलन केवल 11 अंगों का ही संकलन कर पाया; बारहवां अंग जिसमें 14 पूर्व थे, संकलित न हो सका। चूंकि स्थूलभद्र इन चौदह पूर्वों को भलीभांति जानते थे, इसलिए उन्होंने इनका वाचन किया और इस प्रकार बारहवां अंग भी तैयार हो गया। भद्रबाहु को यह बात भी पंसद नहीं आयी। सम्मेलन का आयोजन उनकी अनुपस्थिति में किया गया था, इसलिए उन्होंने बारहवें अंग तथा अन्य संकलित अंगों को भी मानने से इनकार कर दिया। इस प्रकार, अन्त में 83 ई० में दोनों सम्प्रदायों के बीच का अन्तर पक्का हो गया (अन्य मत के अनुसार 142 ई० में)। श्वेताम्बरों का मत है कि महावीर के बाद के आठवें उत्तराधिकारी भद्रबाहु ही नियमों में शिथिलता लाने के लिए जिम्मेवार हैं और श्वेताम्बर सम्प्रदाय का उदय 80 ई० में हुआ। ये दो सम्प्रदाय ठीक किस प्रकार अस्तित्व में आये, इसके बारे में एक रोचक कथा भी है। राजा की सेवा में एक व्यक्ति था। वह जब शिवभूति नाम से भिक्षु बना, तो राजा ने उसे एक बढ़िया कम्बल भेंट किया। शिवभूति के गुरु ने उसे समझाया कि यह कम्बल उसके लिए फंदा बनता जा रहा है, इसलिए उसे इसे त्याग देना चाहिए। शिवभूति ने जब तदनुसार नहीं किया, तो गुरु ने एक दिन शिष्य की अनुपस्थिति में उस कम्बल को फाड़ डाला। शिवभूति को जब इस बात का पता चला तो उन्हें बड़ा क्रोध आया और उन्होंने घोषणा की कि वह उस एक वस्तु को भी अपने पास नहीं रख सकते जो उनके लिए महत्त्व की है, तो वह अपने पास कुछ भी नहीं रखेंगे और नग्न विचरण करेंगे...। और वहीं पर उसी समय उन्होंने दिगम्बरों के एक नये सम्प्रदाय की नींव डाली।[3]

इसी कथा से सम्बन्धित एक घटना यह भी है कि शिवभूति की बहन संघ में शामिल होना चाहती थी, परन्तु इसकी उसे अनुमति नहीं मिली। नग्न विचरण करना एक स्त्री के लिए अव्यावहारिक है, इसलिए शिवभूति ने अपनी बहन को बताया कि एक स्त्री के लिए भिक्षुणी बनना अथवा पुरुष जन्म लिये बिना मुक्ति पाना संभव नहीं है। इस कथा में ऐतिहासिक तथ्य हो या न हो, परन्तु दिगम्बरों ने संघ में स्त्रियों के प्रवेश पर सख्त पाबंदी लगा रखी है, इसलिए इस

3. देखिये, 'इन्साइक्लोपिडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स', खण्ड 12, पृ० 123

कथा में, विशेषतः इस प्रसंग में कि शिवभूति ने अपनी बहन का भिक्षुणी बनना स्वीकार नहीं किया, कुछ सार प्रतीत होता है।

अब नीचे हम इन दो सम्प्रदायों के कुछ मतान्तरों का उल्लेख करेंगे :

तीर्थंकरों के सम्बन्ध में :

दोनों सम्प्रदायों की मूर्तियों के लाक्षणिक स्वरूपों में भिन्नता है।

श्वेताम्बर परंपरा की मूर्तियां कटिवस्त्र धारण किए, रत्नाभूषणों से सुशोभित तथा संगमर्मर में बिठायी कांच की आंखों से युक्त रहती हैं।

दिगम्बर परंपरा की मूर्तियां नग्न होती हैं और आंखें नीचे की ओर झुकी रहती हैं।

महावीर के सम्बन्ध में :

श्वेताम्बरों का मत है कि महावीर की माता क्षत्रियाणी त्रिशला है, परन्तु गर्भ रहा था ब्राह्मणी देवानन्दा को। कहा जाता है कि गर्भ धारण के आठवें दिन इन्द्र देवता ने गर्भ स्थानान्तरित किया। इस कथा का उल्लेख कम-से-कम तीन जैन ग्रन्थों में है— आचारांग, कल्पसूत्र तथा भगवती सूत्र। इस बात की काफी संभावना है कि कल्पसूत्र के लेखक ने ब्राह्मणों को नीची निगाह से देखने की अपने समय की भावना के वशीभूत होकर यह कथा गढ़ी हो और बाद में आचारांग में भी इसे स्थान मिल गया हो। इस कथा के बारे में याकोबी का मत है कि सिद्धार्थ (महावीर के पिता) की दो पत्नियां थीं—ब्राह्मणी देवानन्दा और क्षत्रियाणी त्रिशला। और बालक को जीवन-यापन की विशेष सुविधाएं मिलें, इसलिए उसे क्षत्रियाणी का पुत्र मान लिया गया। परन्तु अब हम देखते हैं कि उस जमाने में अन्तर्जातीय विवाह को पसंद नहीं किया जाता था, तो याकोबी के मत को स्वीकार करने में कठिनाई होती है। संभव है कि देवानन्दा वास्तविक मां नहीं, बल्कि धाय मां थीं। आचारांग से जानकारी मिलती है कि बालक महावीर की देखभाल के लिए पांच परिचारिकाएं थीं और इनमें से एक धाय मां थी। दिगम्बर इस पूरी कथा को असंगत एवं अविश्वसनीय मानते हैं।

श्वेताम्बरों द्वारा लिखी गई महावीर की जीवनियों में दिखाया गया है कि कि वे बचपन से ही दार्शनिक वृत्ति के थे। सांसारिक जीवन को त्यागना चाहते थे, किन्तु माता-पिता की अनुमति नहीं थी इसलिए उन्होंने ऐसा नहीं किया। दिगम्बर मत यह है कि सांसारिक वस्तुओं की क्षणभंगुरता से व्यथित होकर तीस साल की आयु में उन्होंने एकाएक गृहत्याग किया, और उस समय तक अन्य राजकुमारों की तरह वे भी राजमहल के जीवन की सभी सुख-सुविधाओं को भोगते रहे।

श्वेताम्बरों ने लिखा है कि महावीर का विवाह आरंभिक युवावस्था में ही हो गया था। और तीस साल की आयु में तपस्वी बनने के समय तक उन्होंने एक गृहस्थ का जीवन बिताया है। यह बात श्वेताम्बरों के इस मत के अनुरूप है कि महावीर बचपन से ही वैराग्य वृत्ति के थे और सांसारिक जीवन का त्याग करना चाहते थे। इससे उनके माता-पिता बड़े चिंतित थे, इसलिए उन्होंने जल्दी ही महावीर का विवाह कर दिया और उनके लिए सांसारिक सुख की वस्तुएं उपलब्ध करा दीं। बताया जाता है कि महावीर का विवाह राजकुमारी यशोदा से हुआ था।

दिगम्बर मत है कि महावीर का विवाह नहीं हुआ था। इसके लिए वे **पउमचरिय** तथा **आवश्यक निर्युक्ति** के पद्यों का हवाला देते हैं। इन ग्रन्थों में विभिन्न तीर्थंकरों की जीवन-गाथाएं हैं। इनमें १२वें, १९वें, २२वें, २३वें तथा २४वें तीर्थंकर (महावीर) और शेष सभी तीर्थंकरों के बीच स्पष्ट अन्तर दरशाया गया है। इन ग्रन्थों के अनुसार, उपर्युक्त पांच तीर्थंकरों ने कुमार अवस्था में ही संसार त्याग कर दिया था, जब कि अन्य तीर्थंकरों ने अपने-अपने राज्य भोगने के बाद संसार त्याग किया। संस्कृत में इस **कुमार** शब्द के दो अर्थ हैं—राजकुमार और अविवाहित। इन ग्रन्थों में जिस संदर्भ में **कुमार** शब्द का उल्लेख आया है, उससे स्पष्ट होता है कि यह महावीर के अविवाहित होने का द्योतक नहीं है। इस बात की काफी संभावना है कि महावीर अपनी इच्छा के विरुद्ध विवाह के लिए सहमत हुए हों, परन्तु यह लगभग निश्चित है कि उनका विवाह हुआ था।

श्वेताम्बरों का मत है कि महावीर की प्रव्रजित होने की बड़ी इच्छा थी, किन्तु उन्होंने मां को वचन दिया था कि माता-पिता के जीवित रहते वे संन्यासी नहीं बनेंगे। माता के आग्रह करने पर ही उन्होंने यह वचन दिया था। माता-पिता की मृत्यु के बाद भी बड़े भाई से अनुमति लेकर ही महावीर प्रव्रजित हुए थे। श्वेताम्बरों के मतानुसार, महावीर ने यह सब इसलिए किया कि प्रव्रजित होने के पहले वे किसी को दुःख नहीं देना चाहते थे। दिगम्बरों का मत है कि महावीर ने अपने माता-पिता के जीवन-काल में और उनकी इच्छा के विरुद्ध ही गृहत्याग किया।

धर्म ग्रन्थों के बारे में

श्वेताम्बरों का मत है कि चौदह **पूर्व** लुप्त हो गये हैं, परन्तु प्रथम ग्यारह **अंग** उपलब्ध हैं। दिगम्बरों का मत है कि **पूर्व** तथा **अंग** दोनों ही लुप्त हो गये हैं। वे आचार्य स्थूलभद्र के नेतृत्व में आयोजित प्रथम संघ-सम्मेलन की कार्यवाही को स्वीकार नहीं करते, इसलिए पुनःसंकलित **अंग** साहित्य भी उन्हें मान्य नहीं है।

दोनों सम्प्रदायों के धर्मशास्त्रेतर ग्रन्थों की सूचियों में भी काफी अन्तर है।

श्वेताम्बर गृहस्थों को धर्मग्रन्थ पढ़ने की अनुमति नहीं देते थे, किन्तु दिगम्बरों ने सभी को धर्मग्रन्थ पढ़ने की अनुमति दे दी थी।

स्त्रियों के बारे में

श्वेताम्बरों का मत था कि एक स्त्री भी तीर्थंकर बन सकती है, इसलिए उन्होंने स्त्रियों को प्रव्रजित होने की अनुमति दे दी। परन्तु दिगम्बरों ने स्त्रियों को संघ में शामिल होने की अनुमति नहीं दी। उनका मत था कि स्त्री के पुरुष जन्म लेने पर ही उसे तीर्थंकर-पद की प्राप्ति हो सकती है।

उपवर्गों के बारे में

श्वेताम्बरों के दो वर्ग हो गये—स्थानकवासी तथा देरवासी। दिगम्बरों के चार प्रमुख वर्ग हुए—काष्ठासंघ, मूलसंघ, मथुरासंघ और गौप्यसंघ। इनमें बहुत ही थोड़ा अन्तर है। चौथे वर्ग की कई बातें श्वेताम्बरों से मिलती है।

मुनियों के बारे में

श्वेताम्बर मुनि कटिवस्त्र, उत्तरीय आदि चौदह वस्तुएं अपने पास रख सकता है। उसे भ्रमण करते रहने की अनुमति थी। अतः यह आश्चर्य की बात नहीं है कि गृहस्थ लोग मुनियों से कुछ परेशान भी थे। दिगम्बर साधु अपने पास केवल दो वस्तुएं रख सकता है—मोरपंख और मार्जनी। और उसे अरण्य में ही रहना होता था।

आचार्यों की जीवनियों के बारे में

श्वेताम्बर चरित्र शब्द का प्रयोग करते हैं और दिगम्बर पुराण शब्द का।

जैन साहित्य 5

जैन धर्म महावीर से अधिक प्राचीन है, इसलिए ज़ाहिर है कि सारा धर्म साहित्य केवल चौबीसवें तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट नहीं हो सकता। परन्तु महावीर के उपदेशों को विशेष महत्त्व प्राप्त है। उनके उपदेशों का धर्म ग्रन्थों में संकलन हुआ है और ये ग्रन्थ प्रमुख रूप से जैन परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

जैन धर्म के अध्ययन में अनेक कठिनाइयां हैं। एक कारण है इस धर्म की प्राचीनता। दूसरा कारण यह है कि ईसा की पांचवीं सदी तक के अनेकानेक जैनाचार्यों की दार्शनिक कृतियां उपलब्ध नहीं हैं। धर्म ग्रन्थों का संकलन संभवत: पांचवीं सदी में हुआ। चूंकि धर्म ग्रन्थों के संकलन के लिए आयोजित संघ-सम्मेलनों के बारे में निर्विवाद तिथियां नहीं मिलतीं इसलिए जैन धर्म के इतिहास के अध्ययन में अनेक कठिनाइयां हैं। इन संघ-सम्मेलनों की उपलब्धियों के बारे में भी मतान्तर हैं। एक मत है कि प्रथम संघ-सम्मेलन का आयोजन (300 ई० पू० के आसपास) पाटलिपुत्र में हुआ था और उसमें चौदह पूर्वों में से केवल दस पूर्वों का ही संकलन हुआ, परन्तु जैनों का एक वर्ग इसे स्वीकार नहीं करता। अत: इस मत के अनुसार, सिद्धांत की उत्पत्ति दस पूर्व तथा अन्य अंगों के संकलन के साथ ही हुई है।

यार्ल खारपेंटिएर इस मत को अस्वीकार करते हैं कि प्रथम सम्मेलन के समय केवल दस पूर्व ही संकलित हुए। वह इस मत को भी अस्वीकार करते हैं कि सम्मेलन के समय चौदह पूर्वों का अस्तित्व नहीं था। वह लिखते हैं :"'''न केवल चौथे अंग के रचयिता को बल्कि काफी बाद के नन्दीसूत्र के रचयिता को भी सारे चौदह पूर्वों की जानकारी थी। इन चौदह पूर्वों का दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग में संकलन हुआ था और काफी बाद तक हमें इस ग्रन्थ के बारे में जानकारी मिलती है। इसके अलावा अंगों तथा अन्य धर्म ग्रंथों पर लिखी गयी टीकाओं में भी हमें उद्धरण के रूप में पूर्वों के कुछ अंश मिलते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि 300 ई० पू० के संघ-सम्मेलन के काफी बाद तक पूर्वों का अस्तित्व रहा है। इसका अर्थ यह है कि—भद्रबाहु और थूलभद्र के समय के बाद भी प्राचीन धर्म ग्रंथों का अस्तित्व रहा है।"[1]

1. 'उत्तराध्ययन-सूत्र' (उपसाला : 1922), भूमिका, पृ० 15

उस समय तक उपदेशों का वाचन श्रुत परम्परा में ही रहा। इस श्रुत परम्परा के दौरान उपदेशों में काफी परिवर्तन किया गया होगा। इसलिए इन ग्रन्थों के प्रथम संकलन को भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। वस्तुतः इन ग्रंथों को अंतिम रूप मिलने तक इनमें कई प्रकार की ओड़-तोड़ हुई है। यह भी एक महत्त्व का फरक है कि पहले अर्ध-मागधी भाषा का प्रयोग हुआ था और बाद में मागधी का। इन सब जटिलताओं के कारण जैन धर्म की विभिन्न विचार परम्पराओं को सुलझाने में कठिनाई होती है।

जैन धर्म के जो स्रोत ग्रंथ आज उपलब्ध हैं, उनमें हम देखते हैं कि उनके रचयिताओं एवं टीकाकारों ने विभिन्न शैलियों तथा विधियों का प्रयोग किया है। कुछ ग्रंथ शुद्ध गद्य शैली में हैं, तो कुछ ग्रंथों का दार्शनिक चिंतन पद्य में भी गूंथा गया है। यदा-कदा पद्य एवं गद्य की मिश्रित शैली के भी दर्शन होते हैं और कुछ धर्म ग्रंथों में अस्पष्ट अंश तथा पुनरावृत्तियां भी हैं। इस सारे आवेष्टन के भीतर वह सारा व्यवस्थित एवं तार्किक दार्शनिक चिंतन है जिसकी तुलना किसी भी अन्य विकसित भारतीय अथवा पाश्चात्य चिंतन परम्परा से की जा सकती है।

जैन धर्म के स्रोत ग्रंथों को सात वर्गों में रखा जाता है। यहां हम क्रमानुसार इन पर विचार करेंगे।

I. पूर्व साहित्य

पूर्व चौदह हैं और इन्हें प्राचीनतम जैन धर्मग्रंथ माना जाता है। एक मत के अनुसार, पूर्वों की रचना प्रथम तीर्थंकर ऋषभ के समय में हुई थी। अन्य मत है कि पूर्वों में निहित उपदेश महावीर का है और अंगों की रचना उनके गणधरों ने की है। याकोबी इस दूसरे मत के समर्थक हैं। शारपेंटिएर का भी यही मत है, परन्तु वह कहते हैं: "गणधरों और अंगों के सम्बन्ध के बारे में कुछ संदेह होता है, क्योंकि गणधर ग्यारह हैं और बारहवें अंग के लुप्त होने पर अंग[2] भी केवल ग्यारह ही बचे हैं।"[3] उनके मतानुसार इस संयोग से पता चलता है कि "यह सारी कहानी बाद में गढ़ी गयी है।"[4]

श्वेताम्बरों और दिगम्बरों का परम्परागत विश्वास है कि पूर्व साहित्य पूर्णतः लुप्त हो गया है और अब उसे प्राप्त करना संभव नहीं है। चौथे अंग तथा नन्दीसूत्र में पूर्वों की सूची दी गयी है। इस सूची के अनुसार चौदह पूर्व ये हैं :

2. बल मेरा
3. पूर्वो०, पृ० 11-12
4. वही, पृ० 12

उत्पाद, अग्रायणीय, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, अवन्ध्य, प्राणायु:, क्रिया-विशाल और लोकबिन्दुसार।

II. अंग साहित्य

जैन धर्म की प्राचीनतम उपलब्ध स्रोत-सामग्री अंग साहित्य है। यहां हम बारह अंगों पर विचार करेंगे।

आचारांग : यह सबसे प्राचीन अंग है और इसके दो श्रुतस्कंध हैं। शैली और विषय की दृष्टि से इन दोनों में काफी अन्तर है। प्रथम श्रुतस्कंध अधिक प्राचीन है, इसीलिए आचारांग को सिद्धांत का प्राचीनतम अंग माना जाता है।

इस अंग में पद्यांश तथा गद्यांश दोनों हैं। दोनों स्कंधों में मुनि-आचार का वर्णन है। इन स्कंधों में महावीर के उन उपदेशों का संकलन हुआ है जो उन्होंने अपने शिष्य सुधर्म को दिया था और जिसे सुधर्म ने अपने शिष्य जम्बू को सुनाया था।

गद्यांश की शुरुआत इस प्रकार होती है : **सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं।** (आयुष्मन्, मैंने सुना। ऐसा भगवान ने कहा)। यहां मैं शब्द सुधर्म के लिए है और भगवान शब्द महावीर के लिए। प्रत्येक उद्देश्य के अंत में अब्द आते हैं : **त्ति बेमि** (ऐसा मैं कहता हूं)।

इनमें हमें उपदेश दिये जाने के भी व्यापक उल्लेख मिलते हैं। जैसे, "अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के सभी अर्हत् ऐसा कहते हैं, ऐसा बोलते हैं, ऐसी घोषणा करते हैं, ऐसी व्याख्या करते हैं : किसी भी उच्छ्वसित, विद्यमान, जीवित तथा चेतन (वस्तु) को क्लेश न हो, पीड़ा न पहुंचे, निर्वासित न किया जाय।"

कुछ ऐसे भी उपदेश हैं जिनमें हमें कड़े प्रतिबन्धों के दर्शन होते हैं। जैसे, एक उद्देश्यक में कहा गया है : "यह शुद्ध एवं शाश्वत धर्म है और संसार को समझनेवाले बुद्धिमानों ने इसका उपदेश दिया है। यह धर्म ग्रहण करने पर इसे छिपाना नहीं चाहिए, न ही इसे त्यागना चाहिए। इस धर्म को ठीक से आत्मसात् कर लेने पर मनुष्य का अपनी इंद्रियों पर अधिकार हो जाता है और वह संसार के इशारों के अनुसार नहीं चलता···। जो मनुष्य (सांसारिक सुखों में) फंसे और डूबे रहते हैं, उनका पुनः-पुनः जन्म होता है···। सावधान रहो तो तुम्हारी विजय होगी। ऐसा मैं कहता हूं।"

सूत्रकृतांग : इस ग्रंथ में भी दो श्रुतस्कंध हैं। जैन पंडित आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध की तरह सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध को भी प्राचीन धर्म साहित्य के अन्तर्गत रखते हैं। इस अंग में **क्रियावाद, अक्रियावाद, वैनयिक, अज्ञानवाद**

आदि वादों के खण्डनों का निरूपण है।

पहले के अंग की तरह इस अंग में भी गद्य-पद्य का मिश्रण है और इसमें कई दृष्टान्त भी हैं, जो हमें बुद्ध के दृष्टांतों की याद दिलाते हैं। इस अंग का मुख्य विषय है उन तरुणों के लिए चिंता जो नये-नये जैन धर्म में दीक्षित हुए हैं। विरोधी मतों द्वारा दिये जाने वाले प्रलोभनों से नवदीक्षित साधुओं को सावधान किया गया है। एक कथन है : "शिकारी पक्षी जिस तरह"' कूदते-फांदते पंख न निकले हुए पक्षियों को उड़ा ले जाते हैं, उसी प्रकार अनैतिक आदमी धर्म को अभी ठीक से न समझे हुए नवदीक्षित साधु को बहकाकर ले जायेंगे।"

सूत्रकृतांग में जिन विरोधी मतों का जिक्र आया है, उनमें से एक है बौद्ध मत, और इसका खण्डन किया गया है। फिर भी जैसा कि विंटरनिट्ज ने कहा है, आचारांग में संसार के बारे में हम जो दृष्टिकोण देखते हैं वह बौद्ध दृष्टिकोण से अधिक भिन्न नही है। उदाहरण के लिए, उल्लेख है : "केवल मुझे ही नहीं बल्कि संसार के सभी प्राणियों को दुःख भोगना पड़ता है, बुद्धिमान आदमी को इस पर विचार करना चाहिए और उसपर यदि कोई विपत्ति आये तो उसे बिना किसी विकास के चुपचाप सहन करना चाहिए।

स्थानांग और समवायांग : इनमें जैन दर्शन का भंडार है और जैनाचार्यों के ऐतिहासिक चरित्र भी हैं। स्थानांग में बारहवें अंग दृष्टिवाद की विषय-सूची दी गयी है और इसमें जैनों के सात सम्प्रदायों का भी स्पष्ट उल्लेख है। समवायांग में कुछ हद तक शेष सभी अंगों के अंशों का समावेश हुआ है।

भगवती : इस ग्रंथ में महावीर के समकालीन तथा पहले के जैन मुनियों का वर्णन है, इसलिए इसे बड़ा पवित्र माना जाता है। इस ग्रंथ में हमें गौशाल तथा जमालि द्वारा संस्थापित विरोधी मतों के बारे में जानकारी मिलती है। इसी ग्रंथ के आधार पर वेबर इस परिणाम पर पहुंचे थे कि जैन धर्म अत्यंत प्राचीन है।

ज्ञातृधर्म कथा : यह प्रमुखतः एक कथाग्रन्थ है। इसमें कई कथा-दृष्टान्त हैं और हरएक में कोई न कोई नैतिक शिक्षा है। वेबर ने लिखा है : "इन कथाओं को देखने से पता चलता है कि इनकी कोई सुचारु परम्परा रही है। इनमें संभवतः (विशेषतः इसलिए कि इनमें और बौद्ध कथाओं में बड़ा साम्य है) महावीर कालीन जीवन के बारे में हमें विशेष महत्व की जानकारी मिलती है।"[5]

यहां हमें हिन्दुओं के पुराण साहित्य का और बौद्धों के जातक साहित्य का स्मरण हो आता है। इन सभी ग्रन्थों में सरल कथाओं एवं रोचक दृष्टान्तों के

5. इ० ए० XIX, पृ० 65

माध्यम से उच्च नैतिक शिक्षा प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के लिए, इस अंग के प्रथम श्रुतस्कंध की एक कथा है : एक व्यापारी की चार पुत्रवधुएं थीं। उनकी 'परीक्षा' लेने के विचार से उसने हरएक को पांच-पांच चावल दिये, और कहा कि समय आने पर वह उन चावलों को वापस मांग लेगा। पहली पुत्रवधू ने यह सोचकर चावल फेंक दिये कि जब वापस लौटाने होंगे तो वह बड़ी आसानी से गोदाम से पांच चावल लाकर देगी। दूसरी ने वे चावल खा लिये। तीसरी ने उन चावलों को जतन से सुरक्षित रखा। परन्तु चौथी ने उन चावलों को बो दिया, और जब व्यापारी ने उन्हें वापस मांगा, तो उसने बहुत-सारे चावल दिये।[6] इस कथा का आशय यह बताना है कि मुनि भी चार प्रकार के होते हैं : पंचव्रतों की उपेक्षा करनेवाले मुनि, पंचव्रतों को महत्त्व न देनेवाले मुनि, पंचव्रतों का जतन से पालन करनेवाले मुनि और अन्त में वे मुनि जो न केवल उनका पालन करते हैं बल्कि उनका प्रचार-प्रसार भी करते हैं।

उपासकदशा, अन्तकृद्दशा और अनुत्तरोपपातिकदशा : ये सब कथाग्रन्थ हैं और इनमें अनेक दृष्टान्त देकर तपस्वी का जीवन अपनाने की शिक्षा दी गयी है। इन कथाओं के माध्यम से लोगों को समझाया गया है कि अपनी धन-दौलत का त्याग करनेवाले गृहस्थ भी अलौकिक शक्तियां हासिल कर सकते हैं और संन्यासी की तरह मृत्यु का वरण करके उच्च देवपद प्राप्त कर सकते हैं।

उपासकदशा में दस अध्ययन हैं और इनमें जैन उपासकों[7] के धार्मिक नियम समझाये गये हैं। प्रत्येक अध्ययन में धर्मनिष्ठ श्रावकों के बारे में एक कथा है।[8] पहली कहानी हमारी दृष्टि से विशेष महत्त्व की है। इसमें बताया गया है कि एक बार महावीर वाणिज्य ग्राम के समीप के कोल्लाग सन्निवेश में पहुंचे।[9] वहां के धनी गृहस्थ आनंद ने महावीर की पूजा की[10] और उनके धर्मोपदेश को सुना।[11] धर्म में अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए उसने कहा : "....मैं जानता हूं कि बहुत-से राजाओं, राजकुमारों, श्रेष्ठियों, राजप्रमुखों, नगरप्रमुखों आदि ने आपकी

6. 'ज्ञाता सूत्र', 63
7. जैन धर्म में 'उपासक' शब्द ऐसे लोगों के लिए प्रयुक्त होता है जो महावीर के उपदेशों को तो ग्रहण करते हैं, परन्तु तपस्वी के व्रत नहीं लेते, न ही संसार त्याग करते हैं। अनुव्रतों को अंगीकार करके सामाजिक जीवन व्यतीत करना संभव है, इसलिए उपासक गृहस्थ बना रह सकता है।
8. 'उपासकदशा' : I, 2
9. वही, I, 7 व 9
10. वही, I, 10
11. वही, I, 11

उपस्थिति में गृहस्थ-जीवन त्यागकर प्रव्रज्या ग्रहण की है। परन्तु आपकी उपस्थिति में ''मैं गृहस्थ के बारह व्रत—पांच अनुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—ही लूंगा''। भगवान मुझपर कृपा करेंगे, मुझे निराश नहीं करेंगे।''[12]

अन्य कथाएं भी धनिकों के बारे में हैं। इनका भाव है कि धनी लोग बिना संसार-त्याग किये साधु वृत्ति को अपनाने से ही ऐसी अद्भुत शक्तियां प्राप्त कर सकते हैं, जो उन्हें स्वर्ग में देव रूप जन्म दिलाने में समर्थ हैं।[13] जो समीक्षक जैन धर्म की यह कहकर आलोचना करते हैं कि इसमें साधु वृत्ति पर अधिक बल दिया गया है, उन्हें इस कहानी से पता चलेगा कि महत्व साधुवृत्ति का नहीं, बल्कि साधुभाव का है, साधु का नहीं, बल्कि साधुता का है। जैन धर्म के बारे में अनेक गलतफहमियों का कारण यह धारणा है कि जैन धर्म साधुवृत्ति तथा अहिंसा पर अत्यधिक जोर देता है। चूंकि जैन धर्म के एक प्राचीन ग्रन्थ में सांसारिक जीवन के त्याग पर अधिक बल दिया गया है, इसलिए आधुनिक विद्वानों का इससे यह नतीजा निकालना कि इसका अर्थ साधुता से न होकर साधु होने से है, ठीक नहीं है। हमारे इस मत को कि संसार-त्याग के बारे में जैन धर्म ने चरम दृष्टिकोण नहीं अपनाया था, उन कथाओं से समर्थन मिलता है जो सातवें, आठवें तथा नौवें अंगों में आयी हैं और जिनमें कहा गया है कि लोगों को पवित्र एवं निर्लिप्त सांसारिक जीवन व्यतीत करना चाहिए।[14]

प्रश्न व्याकरण : इसके प्रथम खण्ड में पांच आस्रवद्वारों—हत्या, झूठ, चोरी, व्यभिचार तथा आसक्ति—का वर्णन है और दूसरे में पांच संवरद्वारों का, यानी उन्हीं के निषेध रूप अहिंसादि व्रतों का।[15]

विपाकसूत्र : इस अंग में पाप और पुण्य कर्मों के बारे में बहुत-सारी कथाएं हैं।

दृष्टिवाद : यह श्रुतांग अब नहीं मिलता। मान्यता है कि इस अंग में चौदह पूर्वों का समावेश किया गया था। यूरोप के कुछ चोटी के विद्वानों का मत है कि बारहवें अंग के लुप्त होने के बारे में स्वयं जैनों से ही कोई विश्वसनीय जानकारी नहीं मिलती। वेबर का मत है कि जैनों ने ही स्वेच्छा से इस अंग को त्याग दिया है, क्योंकि दृष्टिवाद की शिक्षाओं में और उनकी परम्परागत शिक्षाओं में कोई मेल-जोल नहीं रह गया था।[16] याकोबी का मत है कि इस अंग

12. वही, I, 12
13. वही, I, 63
14. देखिये, बार्नेट, 'अन्तकृद्दशाः एण्ड अनुत्तरोपपातिकदशाः', पृ० 15, 16 व 110
15. इं० ए०, XX, पृ० 23
16. इं० ए०, XVII, पृ० 286

में केवल महावीर तथा उनके विरोधियों के बीच हुए दार्शनिक वाद-विवाद का विवेचन था, इसलिए जैनों के लिए जटिल बन गया या इसमें उनकी कोई दिलचस्पी नहीं रही।[17] लेउमान का मत है कि इस श्रुतांग में फल-ज्योतिष, मन्त्र-तन्त्र आदि का वर्णन रहा होगा, इसलिए जैनों ने इसे भुला दिया।[18] इन तीनों विद्वानों के मतों का सारांश यही है कि स्वयं जैनों ने ही इस बारहवें अंग को त्याग दिया। किन्तु संभवतः बात ऐसी नहीं है, क्योंकि स्वयं जैनों का कहना है कि पूर्व साहित्य शनैः-शनैः लुप्त हुआ।

III उपांग

उपांग भी बारह हैं; परन्तु इनके थोड़े अध्ययन से ही स्पष्ट हो जाता है कि अंगों तथा उपांगों में कोई अन्तर्गत सम्बन्ध नहीं है।

औपपातिक : इस उपांग का ऐतिहासिक महत्त्व है। इसमें राजा अजातशत्रु और महावीर की भेंट तथा महावीर द्वारा पुनर्जन्म एवं मुक्ति के बारे में दिये गये उपदेशों का विस्तृत वर्णन है।

राजप्रश्नीय : इसमें राजा पएसी केशी मुनि से जीव तथा शरीर के सम्बन्ध के बारे में सवाल पूछता है। राजा का समाधान हो जाने पर वह जैन धर्म में दीक्षित हो जाता है।

जीवाभिगम तथा **प्रज्ञापना** : इन उपांगों में जीव और अजीव के भेद-प्रभेदों का विवरण है।

सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति और **चन्द्रप्रज्ञप्ति** : इनमें क्रमशः भारतीय ज्योतिष, भारतीय भूगोल और खगोल का विवेचन है।

कल्पिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूला और **वृष्णिदशा** : ये पांच उपांग संभवतः एक ही ग्रन्थ **निरयावली सूत्र** के भाग हैं। अंगों की तरह उपांगों को भी बारह तक पहुंचाने के लिए इस ग्रन्थ को पांच उपांगों में बांट दिया गया होगा।

IV प्रकीर्ण :

इनकी संख्या दस है और, जैसा कि नाम से जाहिर है, इनमें कोई तारतम्य नहीं है। इनमें नाना विषयों का विवेचन है। दस प्रकीर्ण ये हैं : **चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, संस्तार, तंदुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, देवेन्द्रस्तव, गणितविद्या, महाप्रत्याख्यान** और **वीरस्तव**।

17. 'जैन सूत्राज' भाग प्रथम, भूमिका, पृ० xiv
18. सी० जे० शाह द्वारा उद्धृत, पूर्वो०, पृ० 231, टिप्पणी

V छेद-सूत्र

ये छह हैं। इसमें जैन भिक्षु तथा भिक्षुणियों के आचरण का तथा नियम भंग किये जाने पर समुचित प्रायश्चित्तों का विधान है। इस दृष्टि से इन ग्रन्थों की तुलना बौद्धों के विनय पिटक से की जा सकती है। छेद-सूत्र ये हैं : निशीथ, महानिशीथ, व्यवहार, आचारदशा, बृहत्कल्प और पंचकल्प।

VI मूल-सूत्र :

जैसा कि नाम से जाहिर है, इनमें 'मूलभूत' सिद्धान्तों का विवेचन है। स्वयं भगवान महावीर के वचनों का इनमें संकलन हुआ है। अतः ये सूत्र विशेष महत्त्व के हैं। इनकी संख्या चार है :

उत्तराध्ययन-सूत्र : इसके विषय सूत्रकृतांग से मिलते हैं। इसमें यदा-कदा विरोधी मतों के भी उल्लेख मिलते हैं।

आवश्यक-सूत्र : इसमें जैन मुनियों तथा गृहस्थों के लिए आवश्यक रूप से करणीय छह नित्यक्रियाओं का विवेचन है।

दशवैकालिक : इसमें मुनि-आचार का निरूपण किया गया है।

पिंडनिर्युक्ति : यह पहले के सूत्र का परिशिष्ट है।

VII चूलिका-सूत्र : नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार-सूत्र :

इनमें सम्पूर्ण धर्म साहित्य के बारे में विस्तृत जानकारी दी गयी है और समझाया गया है कि इनका अध्ययन किस प्रकार करना चाहिए।

क्या जैन धर्म नास्तिक है ? 6

भारतीय दर्शनों को दो वर्गों में बांटा जाता है—आस्तिक और नास्तिक। इनमें चार्वाक और बौद्धों के साथ जैनों की गिनती नास्तिक मत के अन्तर्गत होता है।

भारतीय परम्परा में नास्तिक शब्द का इस्तेमाल तीन अर्थों में होता है—पुनर्जन्म में अविश्वास, वेदप्रामाण्य में अविश्वास और ईश्वर में अविश्वास। इनमें से प्रथम अर्थ में जैन धर्म नास्तिक नहीं है, क्योंकि जैन मतानुसार मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है। पुनर्जन्म तथा कर्म सिद्धान्त को छह पुरातन भारतीय दर्शनों की आधारशिला माना जाता है, और इन्हें जैन मत भी स्वीकार करता है। जीव के चार स्वरूपों का जिस प्रकार वर्णन किया गया है, उससे पता चलता है कि जैन मत कट्टर नास्तिक मत नहीं था। जैन धर्म में बताया गया है कि आदमी को नैतिक जीवन व्यतीत करना चाहिए ताकि उसके आध्यात्मिक जीवन की अवनति न हो और उसे कर्म-बन्धन से मुक्त होने का लक्ष्य सामने रखना चाहिए। यह बातें इस गलतफहमी को दूर करती हैं कि चार्वाकों तथा जैनों का नास्तिक दृष्टिकोण एक ही स्तर का था।

जहां तक दूसरे अर्थ का प्रश्न है, इस मत के बारे में कोई दो विचार नहीं हो सकते कि जैन धर्म स्पष्टतः वेद-विरुद्ध है। जैन धर्म वेदप्रामाण्य को स्वीकार नहीं करता, परन्तु इसका कारण यह नहीं था कि उसकी मानव जीवन के कल्पनाशील तथा आधिभौतिक विश्लेषण में आस्था नहीं थी। जैन मनोविज्ञान, तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा इस तथ्य के साक्षी हैं कि वेदों को प्रमाणग्रन्थ न मानने का यह कारण नहीं था कि जैनों को दार्शनिक चिंतन से कोई अप्रीति थी। जैनों के भी अपने आचार्य तथा मुनि और धार्मिक ग्रन्थ थे जिनमें दर्शन की बातें मौजूद थीं। जैनों के भी अपने प्रमाण ग्रन्थ थे। जैनों का विश्वास है कि उनके धर्मग्रन्थों में सही ज्ञान निहित है, क्योंकि उनमें ऐसे महापुरुषों के उपदेशों का संकलन हुआ है जिन्होंने सांसारिक जीवन बिताया, परन्तु सम्यक् कर्म तथा सम्यक् ज्ञान द्वारा स्वयं को परिपूर्ण बनाया।

नास्तिक शब्द का 'ईश्वर को न मानना' यह जो तीसरा अर्थ किया जाता है उसका विशेष महत्त्व है, क्योंकि जनसाधारण में नास्तिक शब्द का प्रचलित अर्थ अनीश्वरवादी ही है। जैन धर्म को पूर्णतः अनीश्वरवादी मानना अप्रामा-

त्त्विक एवं अदार्शनिक बात होगी, क्योंकि जैन धर्म में केवल ईश्वर को अस्वीकार किया गया है, ईश्वरत्व को नहीं।

रिचार्ड गार्वे सामान्य और दार्शनिक अनीश्वरवाद में स्पष्ट अन्तर करते हैं। उनका कहना है कि सामान्य अनीश्वरवाद वैदिक काल में भी देखने को मिलता है। "ऋग्वेद के कई सूक्तों में प्रमुख वैदिक देवता इन्द्र के अस्तित्व को अस्वीकार किया गया है।[1] उन दिनों में भी ऐसे कई लोग थे जो इन्द्र के होने में यकीन नहीं करते थे।[2] यहां हमें पहली बार उस सामान्य अनीश्वरवाद के दर्शन होते हैं जो दार्शनिक चिन्तन पर आधारित नहीं था और उस वस्तु के होने में यकीन नहीं करता था जिसे वह देख न सके। ऐसा ही अनीश्वरवाद कालान्तर में लोकायत मत अथवा कोरा भौतिकवाद कहलाया। यह अनीश्वरवाद उस अनीश्वरवाद से भिन्न था जिसका जन्म गहन दार्शनिक चिन्तन में हुआ था। ऐसे अनीश्वरवाद को हम दार्शनिक अनीश्वरवाद कहेंगे।"[3]

सही दृष्टि से देखा जाय तो जैन अनीश्वरवाद वस्तुतः दार्शनिक अनीश्वरवाद है, क्योंकि उसमें सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की सत्ता का गहन विश्लेषण किया गया है और उन दार्शनिकों के तर्कों का व्यवस्थित रूप से खण्डन किया गया है जिन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के प्रयत्न किये। जैन धर्म में ईश्वर शब्द का प्रयोग जीव के उच्च स्तरीय अस्तित्व के अर्थ में किया गया है। मान्यता यह है कि ईश्वरीय अस्तित्व मानवीय अस्तित्व से थोड़ा ही ऊंचा है, क्योंकि यह भी जीवन-मृत्यु के चक्र से मुक्त नहीं है। सर्वार्थसिद्धि नामक सर्वोच्च स्वर्ग में सर्वाधिक अस्तित्व का काल ३२ और ३३ सागरोपमों के बीच का है। ईश्वरीय जीवों ने अपने जिन अच्छे कर्मों से सामान्य मानवों से अधिक ऊंचा स्तर प्राप्त किया था, उनके समाप्त होते ही उन्हें पृथ्वी पर लौट आना पड़ता है। परन्तु यदि इस काल में वे अतिरिक्त ज्ञान का संग्रह करते हैं, तो उन्हें जन्म-के इस कष्टमय चक्र से मुक्ति मिल सकती है।

जैन मतानुसार मुक्त आत्माएं विश्व के सर्वोच्च स्थान पर पहुंच जाती हैं। वे परिपूर्ण आत्माएं होती हैं, इसलिए इनका पतन नहीं होता। ये सर्वदा के लिए वहीं ऊपर रहती हैं। ये संसार से अलग हुई आत्माएं होती हैं, इसलिए इस जगत पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। और इसीलिए सर्वशक्तिमान जगत-कर्त्ता के कार्य-कलापों से उनका कोई सरोकार नहीं होता। अन्य जो जीव इसी संसार में रहते हैं उन्हें सर्वकालिक नहीं कहा जा सकता। इसी दृष्टि से

1. IV. 24. 10 : X, 119
2. II. 12.5; VIII. 100. 3
3. 'इन्साइक्लोपिडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स', खण्ड 11, पृ० 185

तीर्थंकर का स्थान ईश्वर से ऊंचा है। तीर्थंकर का स्थान प्राप्त करना ही जीवन का उद्देश्य है और तीर्थंकर मानवता का सर्वोत्कृष्ट आदर्श है। अत: स्पष्ट होता है कि आध्यात्मिक परिपूर्णता प्राप्त करना संभव है; यह केवल एक काल्पनिक महत्त्व की बात नहीं है।

भारतीय देवों के बारे में गार्बे ने जो एक बात कही है, उससे जैन दर्शन के नास्तिक स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है। वह कहते हैं : "भारत में लोगों के पिछड़े हुए देवों को मान्यता देकर नास्तिक मत के साथ उनका भली-भांति मेल बिठाया गया है। सांख्य दर्शन में जन्येश्वर अथवा कार्येश्वर की क्षणिक स्थिति पर पहुंचे हुए देवों में जो विश्वास प्रकट किया गया है उसका नित्येश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं है। नित्येश्वर के बारे में आस्तिकों की मान्यता है कि उसी ने अपनी इच्छा शक्ति से यह सृष्टि बनायी है। भारतीय दर्शन में इस विशेष 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग इसीलिए रूढ़ हुआ कि इसे जनसाधारण के देवों से, बोलचाल में भी, भिन्न माना जाय।"[4]

इस संदर्भ में यह जानना उपयोगी होगा कि छह पुरातन भारतीय दर्शनों में जो आस्तिक दर्शन हैं, उनमें से भी कुछ ने ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार किया है। जैसे, न्याय और वैशेषिक दर्शन अपने मूल रूप में अनीश्वरवादी थे और कालान्तर में इन दोनो का संयोग होने पर ईश्वरवादी बने। इसी प्रकार, सांख्य दर्शन ने भी आरंभ में ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार किया था। वस्तुत: सांख्य दर्शन की यह एक प्रमुख विशेषता थी और इसे इसीलिए निरीश्वर दर्शन भी कहते हैं। कई सूत्रों में कहा गया है कि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना संभव नहीं।[5] मीमांसकों का भट्ट सम्प्रदाय भी सर्वशक्तिमान ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करता है।[6]

अब हम ईश्वर के अस्तित्व के जैन खण्डन पर विचार करेंगे। जैन दर्शन, आस्तिक दर्शनों की तरह, सृष्टि के निर्माता एवं नियंता किसी सर्वशक्तिमान ईश्वर में यकीन नहीं करता। जैन मतानुसार, इस विश्व का न कोई आरंभ है, न कोई अन्त। यहां हमें एक अति सुसंगत बाह्यार्थवाद के दर्शन होते हैं। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु का अनादि काल से अस्तित्व है। अत: उनकी उत्पत्ति को सिद्ध करने के लिए किसी सर्वशक्तिमान सृष्टिकर्त्ता की आवश्यकता नहीं है। आचार्य जिनसेन पूछते हैं : "यदि ईश्वर ने इस सृष्टि का निर्माण किया है, तो पहले वह कहां था? यदि वह दिक् में नहीं था, तो फिर उसने सृष्टि का निर्माण

4. वही, पृ० 185
5. I, 92-94; V. 2-12; 46, 126 और 127; VI. 64 और 65
6. प्रकरण 16

कहां किया? एक निराकार-निर्द्रव्य ईश्वर द्रव्यमय विश्व का निर्माण कैसे कर सकता है? यदि द्रव्य का पहले से अस्तित्व रहा है, तो फिर विश्व को अनादि मानने में क्या हर्ज है? यदि सृष्टिनिर्माता का निर्माण किसी ने नहीं किया है, तो फिर विश्व का स्वतः अस्तित्व मानने में क्या हर्ज है?" आगे वह कहते हैं: "क्या ईश्वर स्वतः पूर्ण है? यदि है, तो उसे इस विश्व का निर्माण करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। यदि नहीं है, तो एक साधारण कुम्भकार की तरह वह इस कार्य के लिए अयोग्य होगा, क्योंकि स्वीकृत परिकल्पना के अनुसार एक परिपूर्ण सत्ता ही इस कार्य को कर सकती है...।"[7]

जैन दार्शनिक ठीक ही पूछते हैं: "यदि हर वस्तु का कोई निर्माता है, तो उस निर्माता का भी कोई निर्माता होना चाहिए, इत्यादि। इस दुश्चक्र से बचने के लिए हमें एक अनिर्मित, स्वतःसिद्ध कारण, ईश्वर की कल्पना करनी पड़ती है। किन्तु यदि यह माना जा सकता है कि एक सत्ता स्वतःपूर्ण है, तो फिर यह क्यों नहीं माना जा सकता कि सभी सत्ताएं भी इसी प्रकार अनिर्मित और अनन्तकालिक हैं?" अतः "इस विश्व का कोई आदि कारण मानने की आवश्यकता नहीं है।"[8] सर्वपल्लि राधाकृष्णन् ने जैन मत के बारे में लिखा है: "जैन मत है कि इस विश्व की सभी चैतसिक तथा भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व अनन्त काल से है और किसी बाह्य शक्ति के प्रभाव के बिना प्राकृतिक शक्तियों से ही ये अनन्त चक्रों में चली आ रही हैं। विश्व की विविधता इन पांच प्रतिबंधों के मेल-जोल के कारण है—काल, स्वभाव, नियति, कर्म और उद्यम।"[9]

इस विश्व का न निर्माण हुआ है, न अन्त होने वाला है—जैनों की इस धारणा से उनका ईश्वर सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रतिबद्ध है। क्योंकि, नाम, रूप और अनुभूतियों वाले इस जगत के लिए आस्तिक मतावलम्बी विचारक ईश्वर के अस्तित्व की कल्पना करते हैं, इसलिए इनके द्वारा प्रस्तुत हर तर्क का जैन विचारक खण्डन करते हैं। चूंकि जैन दार्शनिकों ने नैयायिकों के तर्कों[10] का सबसे जबरदस्त खण्डन किया है, इसलिए यहां हम केवल उन्हीं की चर्चा करेंगे।

नैयायिकों का एक तर्क यह है कि इस जगत-कार्य का कोई कारण होना चाहिए, एक बुद्धिमान कारण, और यही ईश्वर है। जैन दार्शनिक कहता है: इस सादृश्य के आधार पर कि सामान्य कार्यों के लिए बुद्धिमान मानव कारण होते हैं

7. 'आदिपुराण', प्रकरण तीन (सी॰ जे॰ शाह द्वारा उद्धृत, पूर्वो॰ पृ॰ 35
8. हेमचन्द्र, 'स्याद्वादमंजरी', श्लोक 6
9. 'इंडियन फिलॉसफी', पृ॰ 330
10. देखिये, 'स्याद्वादमंजरी' और 'षड्दर्शनसमुच्चय'

यदि यह तर्क पेश किया जाय कि इस जगत का कोई ईश्वर कारण है, तो कहा जा सकता है कि आदमी की तरह ईश्वर भी अपरिपूर्ण है। और, यदि यह कहा जाय कि इन दो प्रकार के कारणों में इतनी विशिष्ट समानता नहीं है, तो जैन दार्शनिक कहता है: तो फिर नैयायिक की अनुमिति भी ठीक नहीं है। चूंकि भाप धुएं के समान होती है, इसलिए इस परिणाम पर पहुंचना कि भाप भी आग से निकली है, न्यायोचित नहीं है। तीसरा विकल्प—जगत कार्य अन्य कार्यों से भिन्न है (और इसलिए इसका कारण भी भिन्न है)—भी जैन दार्शनिक को मान्य नहीं है। उसका कहना है: जगत की सृष्टि के कारण तथा मकान के शनैः शनैः खण्डहर हो जाने जैसे परिणाम के बारे में सबसे महत्त्व की बात यह है कि इनके कारण अदृश्य हैं और इसलिए हमें यह स्वीकार करना होगा कि बुद्धिमान शक्ति ही खण्डहर के लिए कारणीभूत है।

सामान्य निर्माता—किसी कार्य का कारण कर्त्ता—के सादृश्य से शुरू करके जैन दार्शनिक तर्क पेश करता है कि जगत का कर्त्ता यदि कोई ईश्वर है तो उसका भी शरीर होना चाहिए। वह कहता है: हमने बिना शरीर का कोई बुद्धिमान कर्त्ता नहीं देखा, इसलिए जगत का कर्त्ता भी बिना शरीर का नहीं हो सकता।

जैन दार्शनिक अन्य संभावनाओं पर भी विचार करता है। जैसे ईश्वर बिना शरीर का है, फिर भी वह सृष्टि का कर्त्ता है। सृष्टि का निर्माण उसने स्वेच्छा से किया होगा या आदमियों के अच्छे या बुरे कर्मों के कारण हुआ होगा या लोगों पर ईश्वर की कृपा के कारण या ईश्वर सृष्टि के निर्माण को महज एक खेल समझता होगा। जैन दार्शनिक का कहना है कि इन चारों में से कोई भी विकल्प हमें ऐसे किसी परिपूर्ण ईश्वर का आभास नहीं दिलाता जो अपने गुण-धर्मों में मानवता से बहुत अलग हो। यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर ने स्वेच्छा से इस जगत का निर्माण किया है तो फिर विश्व को संचालित करने-वाले सभी प्राकृतिक नियम निरर्थक सिद्ध होते हैं। यदि अच्छे और बुरे कर्मों से जगत का निर्माण हुआ है तो फिर ईश्वर की स्वतंत्र भूमिका समाप्त हो जायगी, क्योंकि तब आदमियों के अच्छे और बुरे कर्मों के बारे में उसकी कोई जिम्मेदारी नहीं होगी। मानवता पर कृपा करने के लिए इस जगत का निर्माण किया गया है—यह तर्क भी संतोषजनक नहीं है, क्योंकि तब यह समझ में नहीं आता कि इस संसार में इतना दुःख क्यों है। इस संदर्भ में यदि हम यह मानते हैं कि अच्छे और बुरे कर्मों के कारण ही इस संसार में सुख और दुःख है, तो फिर ईश्वर की सत्ता निरर्थक सिद्ध होती है। अन्तिम विकल्प का अर्थ यह होगा कि ईश्वर ने निरुद्देश्य ही इस जगत की सृष्टि की है। जैन दार्शनिक के मतानुसार इन सारे तर्कों की निष्पत्ति यह है कि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना एक निरर्थक प्रयास है, और इसलिए बेहतर यही है कि इस कल्पना को ही पूर्णतः अस्वीकार

किया जाय।[11]

याकोबी ने स्पष्ट किया है कि किस प्रकार जैनों के निरीश्वरवाद को समझा जा सकता है। वह लिखते हैं : "जैन यद्यपि निरीश्वरवादी हैं, फिर भी संभवतः उन्हें अपने को निरीश्वरवादी कहलाना पसंद न होगा। यद्यपि वे यह मानते हैं कि इस जगत का न कोई आरंभ है और न कोई अन्त होगा और इसलिए किसी ईश्वर द्वारा न निर्मित है, न शासित, फिर भी वे ऐसे पूजनीय परमदेवता अथवा जिन में आस्था रखते हैं जो मायाजाल तथा सभी विकारों से पूर्णतः मुक्त हैं और जो सर्वज्ञ होने के कारण और अपने सभी कर्मों को नष्ट कर चुकने के कारण परिपूर्ण अवस्था पर पहुंच गये हैं।"[12]

अतः ईश्वर के स्थान पर मंदिरों में जिनों की मूर्तियां होती हैं और उनकी पूजा की जाती है। परन्तु जिन सांसारिक स्तर से ऊपर उठे हुए होते हैं, इसलिए ये वस्तुतः लोगों की प्रार्थनाओं का उत्तर नहीं दे सकते। शासन आदि को देखने वाले स्थायिक देवता ही प्रार्थनाओं को सुनते और उनका उत्तर देते हैं। और, मंदिरों के निर्माण का औचित्य इसी अर्थ में है। मंदिरों में जो संस्कारयुक्त पूजा होती है और जिनों की मूर्तियां स्थापित की जाती हैं, उनके पीछे जैनों की गहन आस्था यह है कि जिनों के धर्म का पालन करना ही उनकी पूजा का सर्वोत्तम तरीका है।

समापन करते हुए हम कह सकते हैं कि जैन 'अनीश्वरवाद', आत्मा के अस्तित्व से इनकार किये बिना और विश्व-निर्माता को स्वीकार किये बिना, प्रत्येक व्यक्ति को उसके भाग्य के लिए जिम्मेदार ठहराता है और मानता है कि इस विश्व की प्रत्येक वस्तु अनन्तकालिक है और केवल नैतिक आचरण से ही दीर्घकालीन सुख मिल सकता है।

11. देखिये, एस० एन० दासगुप्त, पूर्वो० पृ० 204-206
12. 'इन्साइक्लोपिडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स', खण्ड 11, पृ० 187

द्वितीय भाग : ज्ञानमीमांसा

जैन ज्ञानमीमांसा

7

ज्ञान को सामान्यतः भावों में बांटा जा सकता है—बाह्य जगत् के बारे में भाव, अन्य व्यक्तियों के बारे में भाव तथा स्वयं के बारे में भाव। इन तीनों वर्गों में से प्रत्येक से सम्बन्धित जो भाव हैं, वे तभी ज्ञान बनते हैं जब ज्ञाता उन्हें व्यवस्थित रूप से ग्रहण करके आत्मसात करता है। यह स्पष्ट ही है कि सभी भाव एक ही मूल्य अथवा कोटि के नहीं होते। क्योंकि कुछ भावों या विचारों को हम सत्य मानते हैं और कुछ को असत्य। सत्य तथा असत्य भावों के इस भेद के कारण हम ज्ञान में भी यथार्थ ज्ञान और अयथार्थ ज्ञान का भेद करते हैं। परन्तु इसके लिए पहले संपूर्ण ज्ञान की उत्पत्ति तथा सिद्धि पर विचार करना जरूरी है। ज्ञान के इस प्रकार के सर्वांगीण अध्ययन को ज्ञानमीमांसा कहते हैं।

चूंकि ज्ञान के लिए ज्ञाता तथा ज्ञेय वस्तु की आवश्यकता होती है, इसलिए ज्ञाता ज्ञेय को किस प्रकार जानता है, यह समझने के लिए ज्ञान के साधनों का विश्लेषण करना जरूरी है। भारतीय ज्ञानमीमांसा में ज्ञान के साधनों को प्रमाण कहते हैं और ज्ञेय वस्तुओं को प्रमेय। गौतम के न्यायसूत्र में हमें पहली बार प्रमाण के बारे में सुव्यवस्थित जानकारी मिलती है; उसमें प्रमेय का भी विवेचन है। बाद में प्रमाण का अध्ययन प्रमेय के अध्ययन से अलग हो गया। तबसे तर्कशास्त्र तथा ज्ञानमीमांसा पर अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ।

ऐसा प्रयास हमें सर्वप्रथम जैन तथा बौद्ध दार्शनिकों के ग्रन्थों में देखने को मिलता है। जैन ग्रन्थ भगवतीसूत्र में एक उल्लेख है, जिसमें भगवान महावीर द्वारा कहलाया गया है—"प्रमाण चार प्रकार के हैं: प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम...।"[1] जैन दर्शन में सामान्यतः यह चार प्रमाण स्वीकृत हैं, परन्तु कभी-कभी केवल तीन प्रमाणों का भी उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ, स्थानांगसूत्र में केवल तीन प्रमाणों की जानकारी है: प्रत्यक्ष, आगम और अनुमान।[2] जैन ग्रन्थों के इन विवेचनों से इस तथ्य की जानकारी मिलती है कि जैन दार्शनिकों ने प्रमाणों पर स्वतंत्र रूप से विचार किया है; परन्तु इसका अर्थ यह कदापि

1. V. 43-192
2. 185

नहीं है कि जैन धर्मग्रन्थों में प्रमाणों तथा प्रमेयों में स्पष्ट भेद किया गया है। अनेक जैन ग्रन्थों में हम देखते हैं कि इन्हें सम्बन्धित एवं संश्लेषित किया गया है। उदाहरण के लिए, तत्त्वार्थसूत्र में हम देखते हैं कि इन दोनों—ज्ञान तथा प्रमाण—को पूर्णतः एक बना दिया गया है। इस सूत्र का रचयिता कहता है : "ज्ञान पांच प्रकार का है—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल। यह सभी प्रकार प्रमाण है।"[3] यहां लेखक ने सम्यक् ज्ञान को प्रमाण के अर्थ में लिया है।

इन पांच प्रकार के ज्ञान में से मति तथा श्रुत को परोक्ष ज्ञान कहते हैं[4] और अवधि, मनःपर्याय तथा केवल को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।[5]

मति ज्ञान वह है जो इन्द्रियमनोजन्य है और श्रुत ज्ञान वह है जो शब्दों से प्राप्त किया जाता है, यानी ऐसे शब्दों से जो विचार, हावभाव आदि के द्योतक होते हैं। विशेष बात यह है कि जैन परम्परा में मति तथा श्रुत के अन्तर्गत मीमांसा के सभी छह ज्ञान के अनुभवों—अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, संभव तथा अभाव—का समावेश हो जाता है।[6] आगम की परिभाषा दी गयी है : "ऐसे शब्दों से प्राप्त ज्ञान जिन्हें सही अर्थों में ग्रहण करने पर उनसे ऐसी यथार्थता का बोध होता है जो प्रत्यक्ष ज्ञान से प्राप्त यथार्थता से भिन्न नहीं होती।"[7] इस परिभाषा से हमें श्रुत के महत्त्व के बारे में अधिक गहन बातों की जानकारी मिलती है। अवधि-ज्ञान भौतिक वस्तुओं के बारे में वह निर्णायक ज्ञान है जो ज्ञाता द्वारा इन्द्रियों अथवा मन की सहायता के बिना सीधे प्राप्त किया जाता है। मनःपर्याय ज्ञान द्वारा दूसरों के मन में चिन्तित पदार्थों का बोध होता है। केवल ज्ञान संपूर्ण यथार्थता का वह सिद्ध एवं असीम ज्ञान है जिसे ज्ञाता सीधे प्राप्त करता है।

बाद के कुछ जैन दार्शनिकों ने इस बात पर विशेष विचार किया है कि ज्ञान की सिद्धि (जिसे कभी-कभी सम्यक् ज्ञान भी कहा जाता है) को किस प्रकार निर्धारित किया जाय। प्रामाणिक ज्ञान उसे कहा गया है जो स्वयं को प्रकाशित करता है और दूसरों को भी प्रकाशित करता है। ऐसे ज्ञान की तुलना दीये के साथ की गयी है; जलता हुआ दीया न केवल दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करता है, अपितु स्वयं को भी प्रकाशित करता है। एक जैन दार्शनिक सिद्धसेन के मतानुसार, प्रमाण ऐसा ज्ञान है जो भावविवर्जित होता है और स्वपराभासि

3. तुलना कीजिये, 'भगवती सूत्र,' 88.2.317, जिसमें ज्ञान के पांच प्रकार बताये हैं : अभिनीबोधिक, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल।
4. 'तत्त्वार्थसूत्र', I. 11
5. वही, I. 12
6. देखिये, 'तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य,' I. 12
7. 'न्यायावतार', 5

होता है।[8] उन्हीं का कहना है कि प्रमाण स्वभावतः भ्रांति रहित होता है। यदि हम कहें कि प्रमाण भ्रांत है, तो विरोधाभास पैदा होता है।[9] संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जैन दार्शनिकों का दृष्टिकोण यथार्थवादी था। तर्क यह है कि दृश्य जगत् का भ्रांति पूर्ण होना सिद्ध नहीं हो सका है, इसलिए स्वपराभासि प्रमाण दोनों की यथार्थता को व्यक्त करता है।[10] विपर्यय की परिभाषा की गयी है कि यह ज्ञान के विपरीत होता है और यह सत् और असत् में भेद कर पाने में असमर्थ होता है।[11] इस परिभाषा से ज्ञान के यथार्थवादी सिद्धान्त का पता चलता है। इससे यह भी पता चलता है कि सभी प्रमाण ज्ञान हैं, परन्तु सभी ज्ञान प्रमाण नहीं हैं।

जैन दार्शनिक ज्ञान की भीतरी तथा बाहरी सिद्धि को स्वीकार करते हैं, इसलिए उनके विचार योगाचार बौद्ध मीमांसक तथा नैयायिकों के सिद्धान्तों से बिलकुल विपरीत हैं। योगाचार बौद्धों का मत है कि ज्ञान केवल स्वयं को ही प्रकाशित करता है, क्योंकि, उनके मतानुसार बाह्य वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है। दूसरी ओर, नैयायिकों एवं मीमांसकों का मत है कि ज्ञान स्वयं को प्रकाशित नहीं करता, यह सिर्फ बाह्य जगत् की वस्तुओं को ही प्रकाशित करने में समर्थ होता है।

हम उन तीन स्तरों को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं जिनमें जैन ज्ञानमीमांसा का विकास हुआ है। पहले स्तर का उल्लेख हम कर चुके हैं। इस स्तर में ज्ञान को पांच प्रकारों में बांटा गया है। पांच प्रकार का यह वर्गीकरण धर्मग्रन्थों की रचना के पहले का है। एन० तातिया का मत है कि आगम ज्ञानमीमांसा अति-प्राचीन है और संभवतः इसकी उत्पत्ति महावीर के पहले के काल में हुई है।[12] अतः कहा जा सकता है कि महावीर ने यह ज्ञान-सिद्धांत पार्श्व की परम्परा से ग्रहण किया है।

दूसरे स्तर में ज्ञान को केवल दो प्रमुख भागों में विभाजित किया गया है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। यह व्यवस्था स्थानांगसूत्र में देखने को मिलती है।[13] तत्त्वार्थ सूत्र में ज्ञान को पहले पांच प्रकारों में बांटा गया है और फिर इन्हें दो भागों में विभाजित किया गया है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। यहां मति तथा श्रुत

8. वही, 1
9. वही, 6
10. वही, 7
11. देखिये, 'तत्त्वार्थ-सूत्र,' I. 32 व 33 और भाष्य
12. 'स्टडीज इन जैन फिलॉसफी' (बनारस : जैन कल्चरल रिसर्च सोसायटी, 1951) पृ० 27
13. II. 1. 7

को परोक्ष ज्ञान माना गया और शेष तीन को प्रत्यक्ष।[14] हमें यह भी मत देखने को मिलता है कि, प्रमाण द्वारा ज्ञात पदार्थों के अनुसार ज्ञान प्रत्यक्ष होता है या परोक्ष। न्यायावतार के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियजन्य होता है और परोक्ष ज्ञान भिन्न प्रकार का होता है।

तत्त्वार्थ-सूत्र के रचयिता उमास्वाति के अनुसार, प्रत्यक्ष वह प्रामाणिक ज्ञान है जिसे जीव पंचेन्द्रियों अथवा मन के बिना सीधे ग्रहण करता है। हमें प्रत्यक्ष ज्ञान की एक और परिभाषा मिलती है: "सभी बाधाओं को विनष्ट करके आत्मा के अन्तर्भाव का जो पूर्ण प्रकटीकरण होता है, उसे प्रत्यक्ष अनुभूति कहते हैं।"[15] महत्त्व की बात यह है कि ज्ञान प्राप्ति के मार्ग में बाधक विभिन्न प्रकार के कर्मों का विनाश करने पर ज्ञाता का स्वरूप स्पष्ट होता है, और वह भी इन्द्रियों अथवा मन की सहायता के बिना। जैन दर्शन की यह एक विशिष्टता है, और स्वयं प्रत्यक्ष और प्रमाण भी, किसी अन्य वस्तु पर आधारित नहीं है, अपितु पूर्णतः स्वनिर्भर है।[16]

प्रत्यक्ष अनुभूति केवल-ज्ञान कहलाती है और यह शुद्ध एवं परिपूर्ण होती है। परन्तु ऐसे परिपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के स्तर हैं,[17] इसलिए एक विशिष्ट अर्थ में इन्हें प्रत्यक्ष अनुभूति भी कहते हैं। यह हैं अवधि ज्ञान और मनःपर्याय ज्ञान। प्रत्यक्ष को पारमार्थिक भी कहते हैं और परोक्ष को व्यावहारिक। प्रत्यक्ष शब्द पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दोनों ही के साथ जोड़ा जाता है। इन्द्रियों तथा मन की सहायता के बिना प्राप्त ज्ञान को पारमार्थिक-प्रत्यक्ष कहते हैं और इन्द्रियजन्य ज्ञान को व्यवहार-प्रत्यक्ष कहते हैं।[18]

परोक्ष की परिभाषा दी गयी है: "वह जो प्रत्यक्ष नहीं है।"[19] चूंकि प्रत्यक्ष

14. I. 11 व 12
15. 'परीक्षामुख सूत्र', II. 1-4; III. 1-2; 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार', II. 2-3
16. ज्ञान के स्वरूप के बारे में जैन दार्शनिकों ने जो मध्यम स्थिति अपनायी है, उसकी हमने पहले चर्चा की है।
17. 'न्यायावतार', 28 में ज्ञान के इन स्तरों का स्पष्ट आभास मिलता है। प्रमाण का परिणाम अज्ञान-निवर्तन, केवल-ज्ञान का परमसुख तथा समभाव और अन्य प्रकार के ज्ञान का चुनाव तथा वस्तुओं का निरसन बताया गया है।
18. देखिये, 'न्यायावतार' तथा श्लोक 27 पर 'वृत्ति'। प्रत्यक्ष को पारमार्थिक और परोक्ष को व्यावहारिक मानने के बाद ऊपर जो प्रत्यक्ष के दो भाग बताये गये हैं उनमें कोई विरोधाभास नहीं है। क्योंकि जैन ज्ञानमीमांसा के स्वरूप के अनुसार हम यह समझते हैं कि मानव जीव की असीम क्षमताएं हैं और ज्ञान प्राप्ति के लिए उसे किसी बाह्य मदद की जरूरत नहीं है; जीवात्मा ही अपने शुद्ध रूप में ज्ञान के तुल्य है।
19. 'न्यायावतार', 4

ज्ञान, जैसे ऊपर बताया गया है, केवल स्वयं पर आश्रित होता है, इसलिए परोक्ष जो कि प्रत्यक्ष से भिन्न है, ऐसा ज्ञान है जो इन्द्रियों तथा मन पर आश्रित होता है। परोक्ष ज्ञान ऐसा व्यावहारिक ज्ञान है जो मन तथा इन्द्रियों द्वारा प्रतिबद्ध होता है और सीमित होता है। इस दो प्रकार के विभाजन के अनुसार अनुमान उपमान तथा शब्द का समावेश परोक्ष के अन्तर्गत होता है।

इस प्रकार, जैन दार्शनिकों के मतानुसार, मन तथा इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। अन्य भारतीय दर्शनों के मत इससे भिन्न हैं। सामान्यतः उनके मत हैं कि इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और शेष अन्य "स्रोतों" से प्राप्त ज्ञान परोक्ष कहलाता है।

जैन ज्ञानमीमांसा के विकास के तीसरे स्तर में यह माना गया है कि अनुभूति से (व्यवहार के लिए) प्रत्यक्ष ज्ञान मिलता है, यद्यपि मान्यता यही रहती है कि मन द्वारा प्राप्त ज्ञान परोक्ष होता है। जैन ज्ञानमीमांसा के विकास के इस दौर की विशेषता यह है कि, इन्द्रियजन्य अनुभूति से प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है, यह मानने से यह ज्ञानमीमांसा अन्य भारतीय दर्शनों की पंक्ति में बैठ गयी है।[20] जैन शब्दावली के अनुसार, मति तथा श्रुत को प्रत्यक्ष माना जाने लगा, क्योंकि इनकी प्राप्ति इन्द्रियों द्वारा संभव है। तत्त्वार्थसूत्र में इसे संव्यवहारिक-प्रत्यक्ष कहा गया है।[21] मोहनलाल मेहता का मत है कि इस तीसरे स्तर पर इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान मानने वाले भारतीय दर्शन के सामान्य प्रवाह का प्रभाव पड़ा है। उनका कहना है कि बाद के जैन दार्शनिकों ने भी लौकिक-प्रत्यक्ष के नाम पर इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। उनके अनुसार इस तीसरे स्तर का सार-संक्षेप है : अवधि, मनःपर्याय तथा केवल-ज्ञान वस्तुतः प्रत्यक्ष हैं, श्रुत ज्ञान सदैव परोक्ष रहता है; इन्द्रियजन्य मति-ज्ञान वस्तुतः परोक्ष है, परन्तु व्यवहार के लिए इसे प्रत्यक्ष माना जाता है; और मनजन्य मति-ज्ञान सदैव परोक्ष होता है।[22]

अन्त में, जैन ज्ञानमीमांसा की विशेषता यह है कि इसमें एक और केवल एक ही प्रकार के प्रत्यक्ष एवं यथार्थ ज्ञान को माना गया है, और वह है केवल-ज्ञान। इसी अर्थ में इसे पारमार्थिक-प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है। चूंकि इन्द्रियों तथा मन के कार्यों को ज्ञानप्राप्ति के मार्ग में बाधक माना गया है, इसलिए अवधि-ज्ञान तथा मनःपर्याय-ज्ञान को एक विशिष्ट अर्थ में ही प्रत्यक्ष माना गया

20. देखिये, 'नन्दीसूत्र', 4

21. I. 9-12

22. देखिये, 'आउटलाइन ऑफ जैन फिलॉसफी' (बंगलोर : जैन मिशन सोसायटी, 1954), पृ० 89

है—प्रत्यक्ष केवल-ज्ञान तक पहुंचने के लिए ये एक प्रकार की सीढ़ियां हैं। चूंकि यथार्थ ज्ञान का सही लक्षण बाधा का अभाव है और एक बाधा अवधि तथा मन:पर्याय में मन के रूप में उपस्थित रहती है, इसलिए माना जाता है कि इनसे प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

दर्शन और ज्ञान 8

जैन परम्परा के अनुसार ज्ञान के जो विभिन्न प्रकार हैं उन पर विचार करने के पहले उन दो स्तरों पर विचार करना जरूरी है जिनके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान-प्राप्ति की पहली सीढ़ी है दर्शन। जैन दार्शनिक दर्शन तथा ज्ञान शब्दों का इस्तेमाल ज्ञानप्राप्ति के अनिर्णीत तथा निर्णीत स्तरों के लिए करते हैं।

इन्द्रिय तथा वस्तु के सम्पर्क से ज्ञानप्राप्ति की प्रक्रिया शुरू होती है और सर्वप्रथम चेतना उद्भूत होती है, और इस दौर में हमें सिर्फ वस्तु की उपस्थिति का आभास मिलता है। अतः सम्बन्धित वस्तु के बारे में केवल अस्पष्ट जानकारी ही मिलती है। उस वस्तु के बारे में व्यापक जानकारी नहीं मिलती, इसलिए वह किस वर्ग की है, इसे जानने का कोई उपाय नहीं होता। जैन शब्दावली में इस प्रथम स्तर को दर्शन कहा गया है, और इस ज्ञान में सत्तामात्र निहित होती है।

मानव-मस्तिष्क में विश्लेषण की जो प्रक्रिया अन्तर्निहित रहती है वह इन्द्रिय-आभास को इन्द्रिय-अनुभूति में बदल देती है। इन्द्रियों को वस्तु के बारे में जो अस्पष्ट आभास मिलता है वह एक स्पष्ट वर्ग-विशेषता की अनुभूति में बदल जाता है। वस्तु की विशिष्टता समझ में आ जाती है और इससे ज्ञान के आगे के विस्तार के लिए मार्ग खुलता है।

दर्शन और ज्ञान के इन दो स्तरों को क्रमशः हम 'परिचय ज्ञान' और 'विशिष्ट ज्ञान' के अर्थ में ले सकते हैं, क्योंकि पहले स्तर में मन के साथ वस्तु का केवल सम्पर्क स्थापित होता है, और दूसरे में उस वस्तु के वर्ग एवं स्वरूप के बारे में व्यापक जानकारी मिलती है। दर्शन से ज्ञान तक का मार्ग ज्ञानप्राप्ति के कच्चे तथा अस्पष्ट स्तर से लेकर उस स्तर तक का मार्ग है जिसमें ज्ञान-केन्द्र का संश्लेषण करनेवाले विभिन्न तत्त्वों को स्पष्ट रूप से भाषा द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। इस भेद को सामान्यतः सभी जैन दार्शनिकों ने स्वीकार किया है, यद्यपि इस विभेद के एक या दूसरे रूप को अधिक महत्त्व देने से उसी एक मौलिक मान्यता को विभिन्न स्वरूप मिल गये हैं। विशिष्ट दार्शनिकों पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

वीरसेन ने बाह्य पदार्थों के जातिगत एवं विशिष्ट गुणों के बोध को ज्ञान कहा है। जब आत्मन् अपने भीतर देखता है, तब वह स्वयं को जानता है, और इसे उन्होंने दर्शन कहा है। अतः दर्शन को अन्तर्मुख माना गया है और ज्ञान को बहिर्मुख। जाहिर है कि जातिगत गुणों का अनुमान तथा विशिष्ट गुणों के बोध के बीच के सामान्य अन्तर को वह स्वीकार नहीं करते। इसका कारण वह यह बताते हैं कि विशेष के बिना सामान्य की धारणा तार्किक दृष्टि से संभव नहीं है और सामान्य के बिना विशेष की धारणा संभव नहीं है। उनके मतानुसार, सामान्यता के बिना विशिष्टता कल्पनामात्र है और विशिष्टता के बिना सामान्यता असंभव है।[1]

अपने तार्किक दृष्टिकोण के अनुसार वह प्रमेयों को 'जटिल' कहते हैं। यहां तक कि अनुभूति की सरलतम स्थिति में भी सम्बन्धित वस्तु द्वारा इन्द्रियों तक प्रेषित विशिष्ट गुणों का और विश्व की जटिलता का बोध होता है। यद्यपि जातिगत एवं विशिष्ट गुणों के संश्लेषण के रूप में वस्तु ग्रहणकर्त्ता मन के समक्ष पेश की जाती है, फिर भी दर्शन के प्रथम स्तर में वस्तु का केवल अन्तर्दर्शनात्मक बोध ही होता है। इससे विश्लेषण तथा संश्लेषण में सुविधा होती है, और दूसरे स्तर के ज्ञान में उन सम्पूर्ण वस्तुओं का बोध होता है जो बाह्य जगत् की होती हैं, विशिष्ट स्थान घेरती हैं, विशिष्ट काल की होती हैं, विशिष्ट वर्ग की होती हैं और कुछ गुणों में उसी वर्ग की अन्य वस्तुओं के समान होती हैं, इत्यादि। अतः बोध के इस दौर में मन बाहर आकर वस्तुस्थिति को ग्रहण करता है और समझता है।

ब्रह्मदेव के विचार भी इसी प्रकार के हैं। उनके मतानुसार, अपने आत्मा का अनुसंधान अनुमान है और तदनन्तर का बाह्य जगत् का अनुसंधान बोध है।[2] ब्रह्मदेव के मत का स्पष्टीकरण करते हुए तातिया लिखते हैं : "आत्मा उसी प्रकार जानता है और सहजज्ञान प्राप्त करता है, जिस प्रकार आग जलती है और प्रकाश भी फैलाती है। एक ही चेतना उद्देश्य-भेद के अनुसार दर्शन भी है और ज्ञान भी। जब यह स्वयं समझने में प्रयत्नशील रहती है तो इसे दर्शन कहते हैं और बाह्य जगत् को समझने में प्रयत्नशील रहती है तो इसे ज्ञान कहते हैं। यदि यह माना जाय कि दर्शन से केवल बाह्य जगत् का और ज्ञान से केवल विशिष्ट का बोध होता है, तो ज्ञान की प्रामाणिकता ही नष्ट हो जायगी।[3]

इस प्रकार, वीरसेन के सिद्धान्त के अन्तर्मुख तथा बहिर्मुख तत्त्वों को ब्रह्म-

1. देखिये, पुष्पदंत के 'षट्खंडागम' पर उनकी धवल टीका, I. 1.4
2. 'द्रव्यसंग्रह' पर टीका, 44
3. एन० तातिया, पूर्वो०, पृ० 73

देव पूर्णतः स्वीकार करते हैं, परन्तु वीरसेन की तरह वह सामान्य तथा विशिष्ट के सरल वर्गीकरण के आलोचक नहीं हैं। वह विशेष रूप से कहते हैं कि जिनकी बुद्धि प्रखर है, उनके लिए यह भेद महत्त्व का हो सकता है, परन्तु जिनकी बुद्धि विश्लेषणात्मक नहीं है उनके लिए ज्ञान के विकास के दौर में प्रकट होनेवाली अन्तर्चेतना तथा बहिर्चेतना की यह स्थितियां अधिक महत्त्व रखती हैं। ब्रह्मदेव के मतानुसार जैन धर्मग्रन्थों का महत्त्व इस बात में है कि वे जटिल पदार्थ का उच्चतर विश्लेषण करते हैं।

नेमिचन्द्र उपर्युक्त भेद को स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार गहराई में उतरे बिना वस्तुओं के सामान्य गुणों के बारे में जो ज्ञान होता है वह दर्शन है और वस्तुओं के विभिन्न पहलुओं के बारे में जो सूक्ष्म ज्ञान होता है वह ज्ञान है।[4]

वादिदेव के मतानुसार दर्शन के दो स्तर हैं। पहले स्तर में चेतना को प्रस्तुत वस्तु का सिर्फ आभास होता है। दूसरे स्तर में वस्तुओं के सामान्य स्वरूपों की अनुभूति होती है, जिसे अवग्रह कहते हैं और यह ज्ञान का पहला स्तर कहलाता है।[5] वास्तविक ज्ञान में प्रमेयों का व्यवस्थित विश्लेषण होता है और इसमें 'लुप्त कड़ियों को जोड़ा जाता है।' अतः वादिदेव एक प्रकार से ज्ञानप्राप्ति की प्रक्रिया का विभाजन तीन स्तरों में करते हैं, यद्यपि वह इसे दर्शन तथा ज्ञान की सामान्य योजना के अन्दर ही समाहित करते हैं।

हेमचन्द्र ज्ञान के दो स्तरों के बीच के सजीव सम्बन्ध को भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करते हैं। उनके मतानुसार दर्शन ही ज्ञान में बदल जाता है।[6] दर्शन को वह ज्ञान का कच्चा माल मानते हैं, जिसे मस्तिष्क 'पकाता है' और ज्ञान में बदल देता है। ज्ञान शब्द का अर्थ यह है कि इससे हमें वस्तु के विशिष्ट गुणों के बारे में जानकारी मिलती है। वह दर्शन की परिभाषा करते हैं : "वस्तु की ऐसी जानकारी जिसमें उसके विशिष्ट गुणों का निर्धारण नहीं होता।" ज्ञान कोई पूर्णतः नयी और ज्ञान से असम्बद्ध चीज नहीं है। अतः हमें ज्ञान तब होता है जब हम जातिगत स्वरूपों को जातिगत गुणों के रूप में समझते हैं और दर्शन तब होता है जब विशिष्ट स्वरूपों को विशिष्ट गुणों के रूप में समझते हैं। दोनों ही आरंभ से मौजूद रहते हैं, इसलिए दर्शन में ज्ञान की सत्ता विद्यमान रहती है।

जब दर्शन तथा ज्ञान को ज्ञानप्राप्ति के स्तर माना जाता है, तो सवाल उठता है कि क्या इन दोनों के बीच कोई लौकिक सम्बन्ध है। इस संबंध में हमें जैन दार्शनिकों के तीन प्रकार के मत देखने को मिलते हैं। धर्मग्रन्थों का मत है

4. 'द्रव्य-संग्रह', 43
5. 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार', II. 7
6. देखिये, 'प्रमाण-मीमांसा' पर टीका, I. 1.26

कि इन दोनों का उद्भव एक साथ नहीं हो सकता। इसके लिए कारण यह बताया गया है कि मानव मस्तिष्क में यह दो चैतसिक क्रियाएं एक साथ नहीं हो सकतीं। दर्शन तथा ज्ञान के एक साथ प्रकट होने का यह सारा वाद-विवाद केवल-ज्ञानी पुरुषके संदर्भ में ही है। जो पुरुष केवल-ज्ञानी नहीं है, उसको लेकर कोई वाद-विवाद नहीं है।

ये तीन मान्य विचार हैं : (1) दर्शन तथा ज्ञान का उद्भव एक साथ होता है, (2) एक के बाद दूसरे का उद्भव होता है, और (3) दोनों पूर्णतः एकरूप हैं।

(1) पहला विचार धर्मग्रन्थों का है, और इसके लिए उनका मुख्य तर्क यह है कि केवल-ज्ञानी पुरुष में दर्शनावरण-कर्म तथा ज्ञानावरण-कर्म दोनों का ही विनाश हो जाता है, इसलिए बाधाएं पूर्ण रूप से दूर हो जाती हैं और दर्शन तथा ज्ञान का एकसाथ उद्भव होता है। इसके अलावा, यदि दर्शन तथा ज्ञान को एकसाथ उद्भूत मानते हैं, तो सर्वज्ञता प्रतिबद्ध होगी और अप्रतिबद्ध नहीं होगी, और यह स्थिति केवल-ज्ञान की जैन धारणा की भावना के प्रतिकूल है।

(2) दूसरे मत में पहले मत के विरुद्ध तार्किक युक्ति पेश की गयी है। यदि पूर्ण दर्शन तथा पूर्ण ज्ञान का उद्भव एक साथ होता है, तो फिर कर्म के दो आवरणों—दर्शनावरण तथा ज्ञानावरण—को मानने की क्या आवश्यकता है? यह मत इस बात की ओर भी निर्देश करता है कि दोनों वस्तुओं का एक साथ बोध होना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी असंभव है। अतः इन सब बाधाओं को यह मानकर दूर किया गया है कि दर्शन तथा ज्ञान का उद्भव एक-एक करके होता है। यह मत: सामान्यतः विकास का द्योतक है—फिर वह विकास चाहे ज्ञान में हो या नैतिक जीवन में। प्रथम स्तर का बाद के स्तर में निश्चय ही विस्तार होता है। ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से, ज्ञान के विकसित स्तर का अर्थ यह है कि प्राथमिक स्तर पूर्ण हो गया है। नीतिशास्त्र के अनुसार, और विशेषतः कर्मावरण की दृष्टि से, विकास का अर्थ यह है कि सभी आवरण एक-एक करके दूर हो गये हैं और अन्त में केवल-ज्ञान प्राप्त हो गया है।

(3) तीसरे मत के अनुसार, केवल-ज्ञानी पुरुष के लिए इन्द्रियों तथा मन की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। इसका अर्थ यह हुआ कि दर्शन के ग्रहण की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि यदि हम एक केवल-ज्ञानी पुरुष के संदर्भ में दर्शन तथा ज्ञान के बारे में सोचते हैं, तो तब इन दोनों को एकरूप ही सोचना होगा। अतः हम देखते हैं यह मत दर्शन तथा ज्ञान के भेद को केवल मन:पर्याय ज्ञान के स्तर तक ही स्वीकार करता है, केवल-ज्ञान के स्तर पर नहीं।

इन सब विकल्पों की समीक्षा करने से स्पष्ट होता है कि (1) और (3) में

विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों ही (2) के आलोचक हैं। यह मत कि दो चेतन क्रियाएं एक साथ घटित नहीं हो सकतीं, स्वीकार करने योग्य है, और मत (2) तथा (3) इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं।

फिर भी, क्रमिक सिद्धान्त में जो सत्यता है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि इससे सर्वज्ञता को समझने तथा उसका विश्लेषण करने का मार्ग दिखाई देता है। किन्तु स्वयं सर्वज्ञ में 'क्रमिकता' को स्वीकार करने में कठिनाई है। तीसरे मत में एकरूपता की जो धारणा है वह स्वीकार्य है, क्योंकि सर्वज्ञ में एकसाथ उद्‌भूत होने का अर्थ होगा—ऐसी चीज का प्रकट होना जिसकी पहले जानकारी नहीं थी, और इसका मतलब यह मानना होगा कि वह कुछ अज्ञानी है।

एक जैन विचारक यशोविजय इन तीनों सिद्धान्तों में निहित सत्यता के बारे में लिखते हैं: "जो दर्शन तथा ज्ञान की स्वतंत्र सत्ताएं स्वीकार करता है, परन्तु क्रमिकता को नहीं मानता, वह उस प्रायोगिक दृष्टि से सही है जिसमें भेद किया जाता है; जो दर्शन तथा ज्ञान के क्रमिकता से उद्‌भूत होने में विश्वास करता है वह उस विश्लेषणात्मक दृष्टि से सही है जिसमें कार्य व कारण की सीमा में भेद किया जाता है; और जो दर्शन तथा ज्ञान की एकरूपता को मानता है वह उस संश्लेषणात्मक दृष्टि से सही है जिसमें भेद को नष्ट किया जाता है और एकरूपता की स्थापना की जाती है। अतः इन तीनों में से किसी भी मान्यता को गलत नही कहा जा सकता।"[7]

7. एम० एल० मेहता के ग्रन्थ 'जैन साइकोलॉजी' (अमृतसर: सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, 1955), पृ० 56 में उद्धृत।

मतिज्ञान 9

मतिज्ञान की परिभाषा की गयी है : "इन्द्रियों तथा मन के माध्यम से प्राप्त ज्ञान।"[1] जैन साहित्य में हमें मतिज्ञान के दो प्रकारों के बारे में जानकारी मिलती है। एक की प्राप्ति इन्द्रियों के सन्निकर्ष से होती है और दूसरे की मन के सन्निकर्ष से। कुछ टीकाकारों ने तीसरे प्रकार के मतिज्ञान को भी माना है। यह ज्ञान इन्द्रियों तथा मन के संयुक्त प्रयास से प्राप्त होता है। ऊपर जिन दो प्रकार के मतिज्ञान की चर्चा की गयी है, उनसे संभवतः यह जाहिर होता है कि ज्ञान-प्राप्ति में इन्द्रियों तथा मन की भूमिका को विशेष महत्त्व दिया गया था, क्योंकि इन्द्रियों तथा मन की सक्रियता के बिना ज्ञानप्राप्ति की कल्पना करना कठिन है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जैनों की केवल-ज्ञान की धारणा को अस्वीकार किया जा रहा है। यहां यही स्पष्ट किया जा रहा है कि इन्द्रियगोचर ज्ञान के विकास के विभिन्न स्तरों की चर्चा के संदर्भ में इन्द्रियों अथवा मन की भूमिका की पूर्ण उपेक्षा नहीं की जा सकती। हमारे इस मत के समर्थन में हम जैन दार्शनिकों द्वारा किये गये मतिज्ञान के चार भेदों का उल्लेख करते हैं। ये हैं—अवग्रह, ईहा, अपाय या अवाय और धारणा।

अवग्रह— इसका विकास दो स्तरों में होता है— व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह।[2] प्रथम स्तर में सम्बन्धित वस्तु किसी एक इन्द्रिय के सम्पर्क में आती है; वस्तुगत तत्वों का इन्द्रियगोचर तत्वों में रूपांतर होने से यह क्रिया सम्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, ध्वनिबोध के लिए सर्वप्रथम यह जरूरी है कि ध्वनि-विकार कान तक पहुंचे और इसके साथ सम्पर्क स्थापित करें। ध्वनि के स्रोत यानी सम्बन्धित वस्तु के ध्वनि-तरंगों में बदल जाने से ध्वनि-विकार पैदा होते हैं, जो कान में पहुंचते हैं और ज्ञानतंतुओं की सहायता से चेतना को जन्म देते हैं। फिर इन विकारों की विशिष्ट प्रकार के विकारों के रूप में पहचान होती है। व्यंजनावग्रह को अकसर अर्थावग्रह तक पहुंचाने वाला एक आवश्यक प्राथमिक स्तर माना जाता है, और अर्थावग्रह को व्यंजनावग्रह की निष्पत्ति माना जाता है। व्यंजनावग्रह पांच में से चार इंद्रियों के लिए ही संभव माना गया है; चक्षु के

1. 'तत्त्वार्थ सूत्र,' I. 14
2. 'नन्दीसूत्र,' 27; 'तत्त्वार्थ सूत्र,' I. 17-18

लिए यह संभव नहीं है। पांच इन्द्रियों तथा एक मन की क्रियाओं के अनुसार अर्थावग्रह के छह भेद माने गये हैं।

अवग्रह के स्तर को तत्क्षणिक माना जाता है, परन्तु यह भी विचार देखने को मिलता है कि अर्थावग्रह स्तर तत्क्षणिक है, व्यंजनावग्रह स्तर नहीं। कारण स्पष्ट है। व्यंजनावग्रह स्तर में, कहा जाता है कि, सम्बन्धित इन्द्रिय पर (विभिन्न प्रकार के) विकारों का निरंतर आघात होता रहता है, और केवल इसी कारण चेतना उद्‌भूत होती है। एक निश्चित स्थिति में ही चेतना में हलचल पैदा होती है। चूंकि विकारों से चेतना को जागृत करने के लिए एक निश्चित कालावधि लगती है, इसलिए प्रथम स्तर को तत्क्षणिक नहीं माना जाता। जैन मतानुसार : विकारों के फलित होने के पहले अनगिनत क्षण गुजर जाते हैं। जैसे ही चेतना में हलचल शुरू होती है, अर्थावग्रह का उदय होता है। इसलिए अर्थावग्रह को तत्क्षणिक नहीं माना जाता। अर्थावग्रह निर्णयक है या अनिर्णयक, इस प्रश्न पर भी वाद-विवाद हुआ है परन्तु जब हम मतिज्ञान के विकास के विभिन्न स्तरों का विश्लेषण करते हैं तो उस पर विचार करना यहां जरूरी नहीं है।

ईहा : व्यंजनावग्रह से जो चेतना उद्‌भूत होती है, उससे अर्थावग्रह का उदय होता है, और इसलिए इन दोनों के बीच की सीमारेखा पतली एवं अस्पष्ट रहती है। और संभवतः यही कारण है कि अवग्रह के सही स्वरूप के बारे में जैन दार्शनिकों में बड़ा मतभेद रहा है।

तार्किक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, इन्द्रियगोचर ज्ञान के विकास के अगले स्तर में, चेतना उद्‌भूत होने से, मन प्राप्त विकारों पर कार्य करता है।। इसे ईहा कहते हैं। इस स्तर में विकारों के बारे में प्रदत्त जानकारी से अधिक जानने का प्रयत्न किया जाता है। उदाहरण के लिए, अवग्रह के पूर्वस्तर में ध्वनि का केवल सामान्य आभास मिल गया था और यह आभास ध्वनि-परमाणुओं के श्रवणेन्द्रिय पर एकत्र होने के कारण हुआ था। यह सामान्य आभास इस रूप में था कि, वस्तुतः यह ध्वनि-विकार था, न कि दृष्टिविकार या अन्य कोई विकार, जो चेतना की हलचल के पीछे थे। इस अनुभूति के अधिक स्पष्ट होने का अर्थ यह है कि मन ने अपना कार्य आरंभ कर दिया है (यहां इसे ईहा कहते हैं) और यह ध्वनि के स्वरूप के बारे में सूक्ष्म जानकारी प्राप्त करना चाहता है—तब, उदाहरणार्थ, यह ध्वनि शंख की हो, या घंटे की या तूरी की। सभी जैन दार्शनिक इस बात के बारे में एकमत हैं कि ईहा में सामान्य अनुभूति से लेकर ग्राह्य विकारों के बारे में विशिष्ट जांच-पड़ताल तक एक मार्ग है। परन्तु हम देखते हैं कि इसी सत्यता को विभिन्न प्रकार से व्यक्त किया गया है।

नन्दीसूत्र में ईहा को अवग्रह से अलग करके इसकी विशिष्टता बतलायी गयी है : "अनुभूति अथवा अवग्रह में आदमी आवाज को तो सुनता है, परन्तु नहीं

जानता कि यह किसकी आवाज है। ईहा में वह आवाज के स्वरूप को पहचानता है।"[3] ईहा के स्तर में अनुभूति के विशिष्ट स्वरूप को समझने की मन द्वारा जो कोशिश की जाती है, उसके बारे में एक अन्य जैन ग्रन्थ ने कहा है : "अवग्रह से उस वस्तु के बारे में केवल आंशिक बोध ही होता हैं, परन्तु ईहा से शेष का बोध होता है और उस वस्तु के विशिष्ट गुण के निर्धारण की चेष्टा होती है।"[4] चूंकि उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार ईहा का महत्त्व इस बात में है कि इसके अन्तर्गत इन्द्रियानुभूति के स्वरूप को समझने का पुनः प्रयत्न किया जाता है, इसलिए एक जैन दार्शनिक इसकी परिभाषा देते हैं : "इन्द्रियगोचर वस्तु के विशिष्ट निर्धारण का प्रयत्न।"[5] इस परिभाषा में वस्तु का अर्थ सम्बन्धित भौतिक वस्तु नहीं है, बल्कि चेतन-वस्तु है, वह अनुभूति है जिसका विश्लेषण किया जाना है। उस 'स्रोत' यानी वस्तु की पहचान जहां से विकारों का उद्भव हुआ है, अगले यानी अपाय स्तर का विषय है; इसे दूसरे स्तर के अन्तर्गत नहीं रखना चाहिए।

यह महत्त्व की बात है कि जैन दार्शनिकों ने बड़ी सावधानी से ईहा तथा संशय के बीच भेद किया है। संशय की परिभाषा दी गयी है कि, यह एक ऐसी मानसिक स्थिति है जिसमें परस्पर विरोधी वस्तुएं स्वीकृति के लिए जोर लगाती हैं; मन सत्य तथा असत्य में भेद करने में असमर्थ होता है और इस प्रकार निर्धारण का अभाव होता है। इसके विपरीत, ईहा में प्रभावशाली विवेचन तथा व्यवस्थित विश्लेषण से सत्य तथा असत्य में स्पष्ट भेद करने का मन द्वारा सफल प्रयत्न होता है।[6]

अपाय : इस स्तर में 'विकल्पों' का परीक्षण होता है; एक को स्वीकार किया जाता है और शेष को त्याग दिया जाता है। अतः इसे निश्चित बोध का भी स्तर कहते हैं। विद्यमान गुणों को स्वीकार किया जाता है और अविद्यमान गुणों को छोड़ दिया जाता है। पूर्वोल्लिखित उदाहरण में ईहा वह स्तर है जिसमें मन ध्वनि के स्रोत को पहचानने का प्रयत्न करता है। इसमें विभिन्न संभावनाओं का विश्लेषण किया जाता है। ध्वनि शंख की हो सकती है या घंटे की अन्य किसी वस्तु की। शंख की आवाज मधुर होती है, परन्तु घंटे को बजाने से जो आवाज निकलती है वह कठोर होती है। ईहित आवाज में ऐसे किसी एक गुण की उपस्थिति से उसके स्रोत का सही-सही निर्धारण होता है।

तार्किक दृष्टि से अपाय स्तर को गोचर निर्धारणा का स्तर कहा गया है। उपर्युक्त उदाहरण में इस गोचर निर्धारणा का रूप होता है : "यह शंखनाद ही

3. 'नन्दीसूत्र', 35
4. 'तत्त्वार्थसूत्रभाष्य', I. 15
5. पूज्यपाद देवानन्दी, 'सर्वार्थसिद्धि', I. 15
6. देखिये, 'विशेषावश्यक भाष्य', 183-184

होना चाहिए।" सर्वार्थसिद्धि में अपाय की परिभाषा दी गयी है : "विशिष्ट गुणों के बोध के कारण सत्य प्रकृति का होनेवाला बोध।"[7]

कुछ जैन दार्शनिकों ने अपाय के बारे में कुछ भिन्न प्रकार से भी विचार किया है। उनके मतानुसार, अपाय के स्तर में सिर्फ अविद्यमान गुणों का ही पृथक्करण होता है, और विद्यमान गुणों का स्पष्ट निर्धारण अगले स्तर—धारणा में होता है। कुछ अन्य दार्शनिकों ने इस मत को दोषपूर्ण कहकर इसकी आलोचना की है। इस आलोचना का मूलाधार यह है कि कुछ गुणों के पृथक्करण की प्रक्रिया में ही कुछ अन्य गुणों को ग्रहण करके क्रिया सम्पन्न होती है। यह मत कि स्पष्ट गुणों को अपाय स्तर के अन्तर्गत स्वीकारा जाता है, जैनों की व्यापक ज्ञानमीमांसा के साथ तार्किक दृष्टि से मेल खाता है। इसके अनुसार, बाधक तत्त्वों को अलग कर देते ही अपने-आप ज्ञान का अवतरण होता है।

धारणा : इस स्तर में गोचर ज्ञान का विकास पूर्ण हो जाता है। तीसरे स्तर में उपलब्ध गोचर निर्णय की धारणा से ही वह गोचर ज्ञान में बदल सकता है। इस निर्णय को धारण करना ही धारणा की विशिष्टता है।

ज्ञान के बारे में सामान्य रूप से हम यह कह सकते हैं कि, यह एक ऐसी प्रणाली है जिसमें विभिन्न विषयों का तथा विभिन्न प्रकार के निर्णयों का संयोजन होता है। परिणामत: शुरू में जब नये ज्ञान का कोई अंश ग्रहण किया जाता है, तो केवल विकार पैदा होता है, संगृहीत ज्ञान के प्रकाश में इसकी पहचान होती है, यह जाना जाता है कि वह ज्ञानांश संगृहीत ज्ञान का ही एक अंश है या उससे सम्बन्धित है। अत: गोचरता का एक उद्देश्य यह भी हो सकता है कि जो पहले से सीखा गया है उसे स्मृति में धारण किया जाय। इसी अर्थ में धारणा को गोचर ज्ञान की निष्पत्ति माना जाता है। नन्दीसूत्र के अनुसार, धारणा एक ऐसी क्रिया है जिसके अन्तर्गत गोचर निर्णयों को अनेक क्षणों के लिए ग्रहण करके रखा जाता है।[8] उमास्वामि के तत्त्वार्थसूत्र भाष्य में धारणा का विश्लेषण तीन स्तरों में किया गया है। प्रथम स्तर में ग्राह्य वस्तुओं के गुणों का स्पष्ट निर्धारण होता है, दूसरे स्तर में इस बोध को धारण किया जाता है और तीसरे स्तर में उसी जानकारी को भविष्य में पहचानने की क्षमता पैदा होती है।[9] बोध के मनोविज्ञान की दृष्टि से इस मत की सारगर्भिता विशेष महत्त्व की है। क्योंकि यदि ज्ञान में धारणा की कोई उपयोगिता है, तो इसके अन्तर्गत मस्तिष्क की याद करने की क्षमता का भी समावेश होना चाहिए। और याद करना तभी संभव होगा जब किसी नयी ग्रहण की गयी बात की पूर्वज्ञात बात के साथ पहचान होगी। एक

7. 'सर्वार्थसिद्धि', I. 15
8. 'नन्दीसूत्र', 35
9. 'तत्त्वार्थसूत्र भाष्य', I. 15

अन्य जैन दार्शनिक जिनभद्र का भी यही मत है। वह धारणा का तीन रूपों में विश्लेषण करते हैं—अविच्युति, वासन और अनुस्मरण।[10]

कुछ जैन दार्शनिकों की परिभाषा के अनुसार, धारणा स्मृति की अवस्था है। परन्तु इस परिभाषा की यह कहकर आलोचना की गयी है कि यह मानव मनोविज्ञान की दृष्टि से असत्य है। क्योंकि इसमें ऐसी स्थिति पैदा होती है जिसमें याद किये जाने के समय तक गोचर निर्णय को धारण करके रखना पड़ता है। इस आलोचना में यह भी बताया गया है कि, नये सिद्धान्त के अनुसार गोचर निर्धारणा की स्थापना तथा इसको स्मरण करने के काल के बीच में अन्य किसी प्रकार का बोध संभव न होगा। यह आलोचना उचित है, क्योंकि दोनों ही मतों के अनुसार दो बोध एक साथ नहीं हो सकते।

जैन दार्शनिकों ने इन्द्रियगोचर ज्ञान के चार स्तरों का जैसा विश्लेषण किया है, उसकी तुलना आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के विश्लेषण से की जा सकती है। जैन दार्शनिकों ने मानव मस्तिष्क से सम्बन्धित धारणाओं का बड़ी सूक्ष्मता से गहन अध्ययन किया है और उनका मनोवैज्ञानिक अन्तर्दर्शन बड़े महत्त्व का है।

10. 'विशेषावश्यक भाष्य', 291

श्रुतज्ञान

10

धर्म साहित्य को अथवा शाब्दिक ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुत शब्द का अर्थ है सुना हुआ। श्रुतज्ञान एक प्रकार का परोक्ष ज्ञान है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। यह धर्मग्रन्थों एवं ज्ञानी तथा अनुभवी व्यक्तियों के शाब्दिक उपदेशों से प्राप्त किया गया अप्रत्यक्ष ज्ञान है। इस संदर्भ में तातिया एक महत्त्व की बात बताते हैं; वह श्रुतज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक प्रतिबन्धों की चर्चा करते हुए लिखते हैं : "व्यावहारिक शब्द-ज्ञान और उनके सही इस्तेमाल की जानकारी श्रुतज्ञान के लिए आवश्यक प्रतिबन्ध हैं। अन्य शब्दों में भाषाज्ञान का सचेतन उपयोग श्रुतज्ञान का अत्यावश्यक प्रतिबन्ध है। वह ज्ञान, जो शब्दों में आबद्ध होने पर भी ज्ञाता द्वारा सचेतन रूप से शब्द-प्रयोग में इस्तेमाल नहीं होता श्रुतज्ञान नहीं अपितु मतिज्ञान (इन्द्रियज्ञान) कहलाता है।"[1]

जैन परम्परा के अनुसार आरंभ में श्रुतज्ञान का अर्थ था : "धर्मग्रन्थों में निहित ज्ञान।"[2] धीरे-धीरे इसका अर्थ हो गया "धर्मग्रन्थों का ज्ञान"। इसके दो भेद हैं—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंगप्रविष्ट के अन्तर्गत 12 श्रुतांगों का समावेश होता है। जो रचनाएं बाद के जैनाचार्यों ने रची हैं और जिनकी संख्या बारह से अधिक हैं, अंगबाह्य कहलाती हैं[3] अन्य शब्दों में, अक्षरों के विविध संयोजनों के अनुसार श्रुतों की संख्या अनगिनत है। आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार,[4] श्रुतों की निश्चित संख्या बताना संभव नहीं है, क्योंकि उनकी संख्या अक्षरों तथा उनके विविध संयोजनों की संख्या के बराबर है। इस ग्रन्थ में इनकी चौदह प्रमुख विशेषताएं बतायी गयी हैं। ये हैं : अक्षर, संज्ञिन्, सम्यक्, सादिक, सपर्यवसित, गमिक और इनके विपरीत छह प्रकार के अंगप्रविष्ट; जैसे अनक्षर, असंज्ञिन्, इत्यादि[5]। परन्तु इस ग्रन्थ में इनके बारे में विस्तृत जानकारी नहीं मिलती। लेकिन नन्दीसूत्र में हमें चौदह श्रुतभेदों के बारे में स्पष्ट एवं विस्तृत

1. 'स्टडीज इन जैन फिलॉसफी', पृ० 49-50
2. 'स्थानांगसूत्र', 71
3. 'तत्त्वार्थसूत्र भाष्य', 1.20
4. 17, 18
5. 19

विवेचन देखने को मिलता है।[6] इनमें से केवल चार श्रुतभेद, और उनके विपरीत भेद, दार्शनिक दृष्टि से महत्त्व के हैं, इसलिए यहां हम उनकी ही चर्चा करेंगे।

अक्षरश्रुत के तीन भेद हैं : **संज्ञाक्षर** अक्षरों के आकार पर आश्रित है, **व्यंजनाक्षर** अक्षरों की ध्वनि पर आश्रित है और जो श्रुतज्ञान पंचेन्द्रियों तथा मन के माध्यम से प्राप्त होता है वह **लब्ध्यक्षर** है। जाहिर है कि प्रथम दो में भौतिक लक्षणों का इस्तेमाल होता है—लिपि के लिखने में और प्रयुक्त शब्दों के व्यवहार में। इसलिए इन्हें **द्रव्यश्रुत** कहते हैं। तीसरे भेद को **भावश्रुत**[7] कहते हैं।

संज्ञिश्रुत तीन प्रकार के ज्ञानकर्म के अनुसार तीन वर्गों में बांटा गया है : (1) भूत, वर्तमान और भविष्य का विचार करनेवाला तार्किक चिंतन; (2) वर्तमान का बोध जिससे जीव की रक्षा या हत्या के लिए क्रमशः उचित या अनुचित कर्म में भेद करने की क्षमता पैदा होती है; और (3) सम्यक् धर्मग्रन्थों के ज्ञान से पैदा होनेवाला बोध।[8]

सम्यक्श्रुत के अन्तर्गत **आचारांग**, **सूत्रकृतांग** आदि जैन धर्मग्रन्थों का समावेश होता है और **मिथ्याश्रुत** के अन्तर्गत वेद तथा महाकाव्यों आदि गैर-जैन धर्मग्रन्थों का समावेश होता है।

तीन प्रकार के मन के अनुसार **असंज्ञिश्रुत** के भी तीन भेद हैं। तीन प्रकार के मन हैं : अपूर्ण विकसित मन, पूर्णतः अविकसित मन और विकृत मन।

श्रुतज्ञान को मतिज्ञान से श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि मतिज्ञान का सम्बन्ध केवल वर्तमान से है, यानी ऐसी वस्तुओं से है जो इन्द्रिय एवं मन के बोध के समय विद्यमान होती हैं, जबकि श्रुतज्ञान भूत-वर्तमान-भविष्य से सम्बन्धित होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि धर्मग्रन्थों में ऐसा ज्ञान निहित होता है जो सार्वकालिक सत्य होता है। इसलिए "श्रुतज्ञान के बारे में कहा जा सकता है कि यह परिपूर्ण स्वरूप के मतिज्ञान द्वारा प्राप्त उच्चतम एवं अति विकसित स्तर का ज्ञान है। यह मतिज्ञान पर आधारित ज्ञान है और यह ऐसा सत्य ज्ञान है जिसका आविष्कार, विकास एवं प्रत्याख्यान अत्यंत विवेकशील व्यक्तियों ने किया है। यह धर्मग्रन्थों का सत्य है; इसकी पवित्रता अखण्ड है। इस प्रकार श्रुतज्ञान अधिकृत ज्ञान है; इसकी प्रामाणिकता निर्विवाद है।"[9]

6. 'नन्दीसूत्र,' 38
7. वही, 39
8. वही
9. एच० एस० भट्टाचार्य, 'रियल्स इन द जैन मेटाफिजिक्स' (बम्बई : द सेठ शांतिदास खेतसी चैरिटेबल ट्रस्ट, 1966), पृ० 300-301

कुन्दकुन्दाचार्य ने श्रुतज्ञान को चार भागों में बांटा है : लब्धि, भावना, उपयोग और नय।[10] इन्हें चार भागों में बांटने की बजाय भट्टाचार्य सुझाते हैं कि "इन्हें स्वतंत्र एवं एक-दूसरे से भिन्न धर्मग्रन्थों के ज्ञान-प्रकार मानने की बजाय एक घटना की विकासशील व्याख्या के चार कदमों का क्रम मानना ही उपयुक्त होगा।"[11]

यदि श्रुतज्ञान का पूर्ण रूप से उपयोग करना है और यदि इस संगृहीत ज्ञान के उपयोग से आदमी अपने आसपास की घटनाओं को समझने में समर्थ बनता है, तो यह बात समझने योग्य है कि यह चार कदम किस प्रकार उस आदमी की विकासशील बोध-क्षमता के द्योतक हैं।

लब्धि व्याख्या का स्तर है। इसमें एक ऐसी घटना का स्मरण किया जाता है जिसका सम्बन्ध विद्यमान घटना से होता है। यदि क्ष तथा य दो घटनाएं हैं, और यह एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, तो घटना क्ष के स्वभाव पर विचार करने से नयी घटना य का स्वभाव आसानी से मालूम हो जाता है।

भावना ऐसा स्तर है जिसमें ज्ञात घटना (क्ष) के स्वभाव का पुनर्विचार होता है, ताकि नयी घटना (य), जो कि पुरानी घटना से सम्बन्धित होती है, ठीक से समझी जा सके।

उपयोग ऐसा स्तर है जिसमें नयी घटना का समुचित मूल्यांकन होता है। पूर्व-परिचित घटना के प्रकाश में विचार एवं समाकलन करने से ऐसा संभव होता है।

श्रुतज्ञान के चौथे स्तर (नय) और मतिज्ञात के चौथे स्तर (धारणा) के बीच एक बड़ा रोचक साम्य दरशाया गया है। धारणा, जिसके अन्तर्गत धर्म-वचन को मन के भीतर पकड़कर रखने की क्रिया सम्पन्न होती है, इन्द्रियजन्य मतिज्ञान की एक प्रकार से चरम सीमा है। इसी प्रकार नय, जिसमें वस्तु के गुण-विशेष को महत्त्व देकर उसे समझा जाता है, श्रुतज्ञान की चरम सीमा है। कारण यह है कि नय में किसी घटना की व्याख्या करने के लिए संगृहीत समस्त ज्ञान का उपयोग नहीं किया जाता, बल्कि किसी वस्तु के विभिन्न पहलुओं तथा उसके विशिष्ट गुणों का अवलोकन करके उसे समझा जाता है।[12]

जैनों के श्रुतज्ञान सिद्धान्त की यह एक विशेषता है कि मति को श्रुत के पहले माना गया है।[13] कोई भी अन्य भारतीय दर्शन शब्द-प्रमाण से जन्य ज्ञान की चर्चा करते हुए यह नहीं कहता कि इन्द्रियजन्य ज्ञान शब्दज्ञान अथवा धर्म-

10. 'पंचास्तिकाय, समयसार', 43
11. पूर्वो०, पृ० 301
12. वही, पृ० 302-303
13. 'तत्त्वार्थसूत्र', I. 20

ग्रन्थों के ज्ञान का आधार है ।

जैनों के श्रुत सम्बन्धी इस विचित्र सिद्धान्त का कारण यह तथ्य है कि उनकी परम्परा में आरंभ में कर्ण द्वारा सुने गये ज्ञान को श्रुत माना गया था। धीरे-धीरे इसका अर्थ हो गया शेष सभी इन्द्रियों के माध्यम से भी प्राप्त ज्ञान। जैनों का मत है कि ज्ञान के उपयोग के लिए इसका संचरण होना जरूरी है, और संचरण भाषा के माध्यम से ही हो सकता है और क्योंकि शाब्दिक संवेदनों को सीधे कर्ण से ही ग्रहण किया जा सकता है, इसलिए मति श्रुत के सदैव पहले रहती है। यद्यपि कर्ण द्वारा शब्द-वचनों को ही ग्रहण किया जाता है, इस कर्ण-जन्य बोध के मूल में भी अशाब्दिक वचन (विचार) ही होते हैं। और फिर, इन्द्रियजन्य अनुभूति चाहे किसी भी प्रकार की—स्पर्श, रूप, रस या गंध से सम्बन्धित—क्यों न हो, इन सबको मनुष्य की विचार-प्रक्रिया से गुजरना होता है, और अन्ततोगत्वा भाषा में यानी ध्वनि-संकेतों में बदला जा सकता है। फिर यह ध्वनि-संकेत श्रोता के कर्णेन्द्रियों तक पहुंचते हैं और उसमें 'समा' जाते हैं। चूंकि विचार के लिए शब्दों का इस्तेमाल करने से श्रवण की स्थिति भी जरूरी है, और शब्द ही एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा इन्द्रियजन्य अनुभूतियों को सामान्यतः प्रकट किया जा सकता है, इसलिए मतिज्ञान सदैव श्रुतज्ञान के पूर्व रहता है।

जैन परम्परा में श्रुत का जो तीन प्रकार का अर्थ पाया जाता है (धर्म-साहित्य, लिखित या उच्चारित संकेत और अव्यक्त शब्दज्ञान) उसके बारे में तातिया का मत है कि जैन चिंतन के विकास में विमर्श की शनैः-शनैः बढ़ती सूक्ष्मता के कारण इनका उदय हुआ है। उनके कहने का अर्थ यह नहीं है कि श्रुत के इन तीन प्रकार के अर्थों के विकास का कालक्रमानुसार अध्ययन किया जा सकता है। वह कहते हैं कि उन्हीं जैन विचारकों ने श्रुत को धर्म-साहित्य की धारणा से आरंभ करके अव्यक्त शब्दज्ञान की धारणा तक पहुंचा दिया होगा। इस सम्बन्ध में जैन साहित्य में इतना व्यापक, विविध एवं सूक्ष्म विवेचन उप-लब्ध है कि उसमें कालान्तर के जैन लेखकों की मौलिक देन की खोज कर पाना कठिन हो जाता है।[14]

श्रुत और मति के बीच के भेद या सम्बन्ध के बारे में जैन साहित्य में दो प्रकार के मत देखने को मिलते हैं। एक मत के अनुसार मति और श्रुत एक-दूसरे से पूर्णतः भिन्न हैं और दूसरे मत के अनुसार इन दोनों में कोई भेद नहीं है।

प्रथम मत के दो आधार हैं : (1) मति श्रुत से इसलिए भिन्न है कि इसमें शब्दों के लिए कोई स्थान नहीं है। शब्द-संयोजन श्रुत की खास विशेषता है।

14. वही, पृ० 53

हम देखते हैं कि इस मत की दो प्रकार से आलोचना की गयी है। एक यह है कि, यदि मति से शब्दों को एकदम अलग कर दिया जाय तो फिर इसमें ईहा, अपाय तथा धारणा के लिए कोई स्थान नहीं रह जायगा, क्योंकि इनका विषय बोधगम्य चिन्तन है, और शब्द-रहित बोधगम्य चिन्तन महज एक कल्पना है। यदि ऐसा होता है तो फिर मानव और पशु में कोई भेद ही नहीं रह जायगा। दूसरी आलोचना यह है कि इससे निर्धार्य बोध संभव न होगा और हमें अनिर्धार्य बोध के स्तर पर ही रुक जाना होगा।

मति श्रुत से इस अर्थ में भिन्न है कि इसका ज्ञान केवल ज्ञाता को ही हो सकता है। यह उस मूक आदमी के बोध-जैसा है जो अनुभव तो करता है, किन्तु इसे दूसरों के सम्मुख व्यक्त नहीं कर सकता। श्रुत की प्रमुख विशेषता यह है कि यह 'बहता' है और अपने को ज्ञाता तक पहुंचाता है। यह उस व्यक्ति की तरह है जो बोल सकता है, जो अपने अनुभवों को बाह्य संकेतों से व्यक्त कर सकता है। इस मत की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि मति और श्रुत दोनों ही ज्ञान के स्वरूप हैं, इसलिए स्वयं को दूसरे के सम्मुख व्यक्त नहीं कर सकते। यदि, केवल तर्क के लिए, यह मान भी लिया जाय कि ज्ञान दूसरों के लिए प्रकट करना संभव है, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह एक को प्रकट किया जा सकता है और दूसरों को नहीं। क्योंकि एक स्थिति में प्रकटीकरण शब्दों के रूप में होता है और दूसरी स्थिति में हावभाव के रूप में।

दूसरा मत, जिसमें मति और श्रुत के भेद को नहीं माना गया है, शुद्ध तर्क पर आधारित है। कहा गया है कि मति में भाषा निर्धारण की कोई भूमिका अदा नहीं करती, और मति के लिए पूर्वज्ञान भी अल्प महत्त्व का ही है। परन्तु श्रुतज्ञान शब्दों में रहता है। चूंकि हर प्रकार का बोध एक प्रकार का संभवनीय श्रुत ही है, इसलिए कहा जा सकता है कि बोध शब्दमय तो होता है, परन्तु यह पूर्वज्ञान से मुक्त होता है। लेकिन यह एक असंभव बात है, और इसलिए मति तथा श्रुत में कोई वास्तविक भेद नहीं है। इस कठिनाई से बचने के लिए भेद सिद्धान्त के समर्थक यह कहते हैं कि जब शब्दों का अभाव रहता है तो वह मति है, और जब शब्दों का अस्तित्व रहता है तो मति श्रुत में बदल जाती है। परन्तु इस मत के आलोचकों का कहना है कि यह भेद बहुत ही कृत्रिम है और इसलिए यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि शब्दों से ज्ञान को एक नया स्तर मिलता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मति ही पर्याप्त है और श्रुत निरर्थक है। या यह भी कहा जा सकता है कि श्रुत मति का ही एक प्रकार है। ऐसी स्थिति में श्रुत पर स्वतंत्र विचार करना या इसे एक स्वतंत्र भेद मानना न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। अतः श्रुत और मति में कोई भेद नहीं है।

केवलज्ञान 11

जैन दर्शन की एक विशिष्टता है उसका केवलज्ञान का सिद्धान्त । इसे प्रत्यक्ष ज्ञान या तत्क्षण ज्ञान भी कहते हैं । केवलज्ञान की परिभाषा दी गयी है कि यह परिपूर्ण, समग्र, असाधारण, निरपेक्ष, विशुद्ध, सर्व-भाव-ज्ञापक, लोकालोकविषय तथा अनन्तपर्याय होता है ।[1] इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि मनुष्य की ज्ञान-प्राप्ति की प्रगति में सर्वज्ञता का एक ऐसा स्तर आता है जब उसे बिना किसी बाधा के यथार्थता का पूर्ण अन्तर्ज्ञान हो जाता है। चूंकि जैन दर्शन की आधार-भूत मान्यता यह है कि इन्द्रिय तथा मन 'ज्ञान के स्रोत' न होकर सिर्फ 'बाधा के स्रोत' हैं, इसलिए स्पष्ट है कि सर्वज्ञ का स्तर दिक् तथा काल की सीमा के परे का है। अतः सर्वज्ञता एक ऐसी पूर्ण अनुभूति है जिसके अन्तर्गत दिक्काल की सीमित विशेषताओं वाले अनुभवों का समावेश नहीं होता। केवलज्ञान की श्रेष्ठता का आधार यह है कि, मति तथा श्रुत के विषय सभी पदार्थ हैं, परन्तु इनमें उनके सभी रूपों का निरूपण नहीं होता (असर्व-द्रव्येषु असर्व-पर्यायेषु); अवधि के विषय केवल भौतिक पदार्थ हैं, परन्तु इसमें उनके सभी पर्यायों का विचार नहीं होता (रूपिष्वेव द्रव्येषु पर्यायेषु); अवधि द्वारा प्राप्त भौतिक पदार्थों का अधिक शुद्ध एवं अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान मनःपर्याय है; और केवलज्ञान का विषय सभी पदार्थ हैं और इसमें उनके सभी पदार्थों का विचार होता है (सर्व-द्रव्येषु सर्वपर्यायेषु च) ।[2]

भारतीय ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से केवलज्ञान की यह धारणा इस माने में विशिष्ट[3] है कि इसे इन्द्रिय तथा मन की बाधाओं को शनैः-शनैः दूर हटाकर प्राप्त किये गये संपूर्ण ज्ञान का चरमोत्कर्ष कहा गया है । जैसा कि **प्रमाण मीमांसा** में कहा गया है : "ज्ञान के क्रमिक विकास की चरमोन्नति की आवश्यकता के

1. 'तत्त्वार्थसूत्र', 1-30 और भाष्य
2. वही, 1.27-30 और भाष्य
3. यह इस माने में विशिष्ट है कि अन्य सभी भारतीय दर्शनों में इन्द्रिय तथा मन को उस प्रकार बाधाएं नहीं माना जाता जिस प्रकार जैन दर्शन में इन्हें पूर्ण ज्ञान के मार्ग की बाधाएं माना जाता है ।

प्रमाण से सर्वज्ञता प्रमाणित होती है।"[4] इस धारणा की व्याख्या करते हुए मेहता लिखते है : "जिस प्रकार ताप की डिग्रियां होती हैं और अन्त में इनकी एक सीमा होती है, उसी प्रकार ज्ञान, जिसका कि क्रमिक विकास होता है, अपने मार्ग की विविध स्तरों की बाधाओं को दूर हटाते हुए उच्चतम सीमा पर पहुंच जाता है। यह है सर्वज्ञता, जब कर्म की सभी प्रकार की बाधाओं का पूर्णत: विनाश हो जाता है।"[5]

यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि केवलज्ञान की चर्चा केवल ज्ञानमीमांसा के संदर्भ में ही नहीं की गयी है।[6] उद्दिष्ट मानवीय आदर्श की चर्चा के संदर्भ में भी इस धारणा को महत्त्व दिया गया है। अर्थात्, नैतिक दृष्टि से भी इसके महत्त्व को स्वीकार किया गया है। इसी संदर्भ में हम कर्म सिद्धांत तथा बाधाओं को हटाकर प्राप्त किये गये केवलज्ञान के परस्पर सम्बन्ध को समझ सकते हैं और परिणामत: ज्ञानमीमांसा तथा नीतिशास्त्र के चरमोद्देश्य में एकरूपता देखते हैं।

जैनों के कर्म-सिद्धान्त के अनुसार, मोहनीय कर्म के संपूर्ण विनाश के कुछ समय बाद और ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्मों के विनाश के बाद ही सर्वज्ञत्व की प्राप्ति हो सकती है। तब कहा जाता है कि आत्मा पूर्ण रूप से देदीप्यमान हो उठता है, और सर्वज्ञता[7] के स्तर पर पहुंच जाता है और तब सभी पदार्थों के सभी पर्याय स्पष्ट हो जाते हैं। यह भी कहा जाता है कि सर्वज्ञत्व के लिए कुछ भी अज्ञेय नहीं रह जाता।[8]

जैन परम्परा का उल्लेख करते हुए उमास्वामि भी कहते हैं कि **केवलज्ञान** संपूर्ण ज्ञान की परिणति है। इस परम्परा के अनुसार जिस प्रकार पूर्वाकाश में सूर्योदय होने पर सितारे अपनी कांति खो बैठते है, उसी प्रकार जब केवलज्ञान का उदय होता है, तो अन्य प्रकार के ज्ञान — **मति, श्रुत, अवधि तथा मनःपर्याय** लुप्त हो जाते हैं। जैसा कि स्वाभाविक है, उमास्वामि परम्परागत विचारों का समर्थन करते हैं। उनका तर्क है कि, **ज्ञानावरण कर्म** के पूर्ण विनाश के बाद **केवलज्ञान** का उदय होता है, जबकि अन्य चार प्रकार के

4. I. 1.16
5. 'आउटलाइन्स ऑफ जैन फिलॉसफी', पृ० 100
6. 'द न्यायावतार', 28 के अनुसार : "प्रमाण का परिणाम है अज्ञान-निवर्तन, केवलज्ञान का है परमसुख और समभाव, और शेष प्रकार के ज्ञान का है आदानहान-धी:।"
7. देखिये, 'तत्त्वार्थसूत्र', X.1 और भाष्य
   और देखिये, 'स्थानांगसूत्र', 226
8. देखिये, 'तत्त्वार्थसूत्र', 1.30 तथा भाष्य
   और देखिये, 'आवश्यकनिर्युक्ति,' 77

ज्ञान का अस्तित्व ज्ञानावरण-कर्म के केवल विनाश-युक्त-अस्तित्व के कारण है। उनका कहना है कि, पूर्ण विनाश में विनाश-युक्त-अस्तित्व की संभावना बनी रहती है।[9]

केवलज्ञान की धारणा की विशेषता को इस जैन दृष्टिकोण के आधार पर समझा जा सकता है कि, मनुष्य की आत्मा, दिक्काल की दूरियों के बिना भी, सभी बातों को समझने में समर्थ होती है। इस क्षमता का सिर्फ यह तात्पर्य नहीं है कि मनुष्य अपने भावों को शुद्ध करने की 'क्रमिक क्षमता' रखता है और चरम ज्ञान की प्राप्ति का उसमें संकल्प होता है। इस क्षमता का अर्थ यह है कि, मनुष्य इन्द्रिय एवं मन की सहायता के बिना भी ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है। इन्द्रिय तथा मन को ज्ञानप्राप्ति के मार्ग की बाधाएं माना गया है, और इसलिए आदमी की मान्य नैतिक शिक्षाएं तथा इन्द्रिय एवं मन का नियंत्रण अन्ततोगत्वा बाधाओं के स्रोत—इन्द्रिय एवं मन—को दूर हटाने पर निर्भर हैं। केवलज्ञान प्राप्त करने की आत्मा की क्षमता ज्ञानावरण-कर्म द्वारा सीमित होती हैं।[10]

जब यह कहा जाता है कि आदमी में असीम ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता है, तो उसका यह अर्थ होता है कि ज्ञान के मार्ग की बाधाएं पूर्ण नहीं हैं, क्योंकि यदि वे पूर्ण हैं तो फिर जीव तथा अजीव के बीच कोई भेद नहीं रह जायगा। इस सीमित क्षमता से हमें निश्चय ही ऐसा भास होता है कि इन्द्रिय एवं मन ज्ञानप्राप्ति में सहायक होते हैं। इन्द्रिय-वस्तु सम्बन्ध से प्राप्त होनेवाले सीमित ज्ञान के बारे में यह गलत धारणा बन जाती है कि इससे स्वयं ज्ञानप्राप्ति की एक 'प्रविधि' हासिल हो जाती है। इस बात को नहीं समझा जाता कि स्वयं यह गलत धारणा कर्म के कुप्रभाव के कारण है और आत्मा की क्षमता एवं शुचिता पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। जब मनुष्य यह अनुभव करता है कि पूर्ण ज्ञान के मार्ग की वास्तविक बाधाएं कर्माणु हैं, तो वह केवलज्ञान प्राप्ति की दिशा में पहला कदम रखता है, और जब वह मान्य नैतिक शिक्षा को अमल में लाता है तो उसे मानव आत्मा की क्षमता का पूर्ण आभास होता है और वह जान जाता है कि आदमी अपने जीवन के चरम उद्देश्य को प्राप्त कर सकता है।

अन्य दार्शनिक विचारधाराओं से यह सिद्धान्त पूर्णत: भिन्न है, इसलिए इसके विरुद्ध मौलिक तर्क उठाये गये हैं, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। इनमें मीमांसकों द्वारा उठायी गयी आपत्तियां मौलिक हैं, इसलिए यहां हम उन पर विचार करेंगे और देखेंगे कि जैनों ने उनके क्या उत्तर दिये हैं।

9. देखिये, 'तत्त्वार्थसूत्र भाष्य', 1.30
10. वही, 1.31

मीमांसक प्रथम ही यह कहते हैं कि किसी भी प्रमाण से हमें सर्वज्ञत्व, या इसके ज्ञान की भी, प्राप्ति नहीं हो सकती। मीमांसकों द्वारा स्वीकृत छह प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। मीमांसकों के अनुसार, इनसे हमें सर्वज्ञत्व के बारे में ज्ञान भी प्राप्त नहीं हो सकता।

प्रत्यक्ष का विस्तार इतना सीमित है कि, 'अन्यों' के संबंध में अधिक से अधिक हमें पदार्थों के स्वरूप एवं आकार के बारे में ही जानकारी मिल सकती है, और उनके सीमित ज्ञान के बारे में भी कोई जानकारी नहीं हो सकती। अतः मीमांसकों का कहना है कि सर्वज्ञ सत्ता के मन में अनगिनत विचारों का प्रत्यक्ष होना असंभव है, यह एक स्पष्ट बात है। यह बात जैनों के इस मत से भी सिद्ध होती है कि सर्वज्ञ को अतीत, वर्तमान तथा अनागत का ज्ञान होता है।

जैनों का उत्तर है कि ज्ञान या तो अनुभवातीत होता है या प्रयोगजन्य, फिर अनुभवातीत ज्ञान दो प्रकार का होता है—अपूर्ण और पूर्ण, और प्रयोगजन्य ज्ञान के भी दो प्रकार हैं—इन्द्रियजन्य और इन्द्रिय-निरपेक्ष। प्रथम स्थिति का अपूर्ण अनुभवातीत ज्ञान, अवधि एवं मनःपर्याय की तरह, स्वयं सर्वज्ञत्व की संभावना का निषेध नहीं करता, क्योंकि उनका सम्बन्ध ऐसी वस्तुओं से होता है जिनमें रूप तथा द्रव्य होता है। दूसरी तरफ, उनमें हमें ज्ञानप्राप्ति की प्रक्रिया में परिपूर्णता की संभावना के दर्शन होते हैं। इन्द्रिय-निरपेक्ष ज्ञान में भीतरी अनुभूति होती है, जैसे सुखमय तथा दुःखमय अनुभव, और ये स्वयं सर्वज्ञत्व की संभावना का निषेध नहीं करते।

यदि यह माना जाय कि इन्द्रियानुभूति सर्वज्ञत्व की संभावना का निषेध करती है, तो प्रश्न उठता है कि किसकी इन्द्रियानुभूति—जिज्ञासु की या अन्य किसी की। यदि यह जिज्ञासु की है, तो इसका अर्थ होगा उस क्षण की अनुभूति जब सर्वज्ञत्व के बारे में संदेह व्यक्त किया गया है, या यह संपूर्ण देश तथा काल की अनुभूति होगी। प्रथम विकल्प के बारे में जैनों का कोई विवाद नहीं है, क्योंकि यह असर्वज्ञ सत्ता के अस्तित्व का पोषक है। जहां तक दूसरे विकल्प का प्रश्न है, अतीत, वर्तमान तथा अनागत के अनुभव के बाद, या बिना ऐसे अनुभव के ही, निर्णय दिया जाता है। प्रथम विकल्प का अर्थ होगा कि जो व्यक्ति सर्वज्ञता का विरोध करता है वह स्वयं सर्वज्ञ है, और दूसरे विकल्प का अर्थ होगा कि वह स्वमताभिमानी है।

यदि यह माना जाय कि दूसरों की अनुभूति से सर्वज्ञत्व में अनास्था पैदा होती है, तो फिर भी यह तर्क अप्रामाणिक होगा, क्योंकि उस स्थिति में एक 'अन्य' व्यक्ति का सर्वज्ञत्व के बारे में यह अनुभव भी सत्य माना जा सकता है। इसलिए प्रत्यक्ष से सर्वज्ञत्व की संभावना का पूर्णतः निषेध नहीं होता।

मीमांसकों का कहना है कि किसी सर्वज्ञ सत्ता का ज्ञान अनुमान के द्वारा भी

नहीं हो सकता, क्योंकि इस संदर्भ में अनुमान की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता—हेतु—को स्वीकार नहीं किया जा सकता। चूंकि हेतु तथा साध्य के बीच के अनियत एवं स्थिर सम्बन्ध से अनुमान का आगमन होता है, और चूंकि साध्य के साथ हेतु अवश्य जुड़ा रहता है, इसलिए ऐसी स्थिति में सर्वज्ञत्व की खोज नहीं हो सकती, सर्वज्ञत्व को जाना ही नही जा सकता। इसके अलावा, कठिनाई यह है कि इन्द्रियों से सर्वज्ञत्व को नहीं जाना जा सकता।

इसके लिए जैनों का उत्तर है कि, यदि सर्वज्ञत्व के ज्ञान को असंभव माना जाता है तो हेतु, जोकि सर्वज्ञत्व के साथ विपरीत रूप से सम्बद्ध हो सकता है, भी असंभव है। अतः सर्वज्ञत्व के अस्तित्व का निषेध ही इसकी सत्ता को सिद्ध करता है।

मीमांसक इस संदर्भ में उपमान को भी निरुपयोगी मानते हैं। क्योंकि उपमान में वस्तुओं के बीच की विशिष्ट समानताओं के ज्ञान पर बल दिया जाता है, और सर्वज्ञ सत्ता के सम्बन्ध में ऐसी बात संभव नहीं है, इसलिए यह प्रमाण भी उपयोग का नहीं है। मीमांसक कहते हैं, चूंकि किसी ने भी सर्वज्ञ सत्ता को देखा नहीं है, इसलिए उसमें तथा उसकी तरह के अन्य किसी में किसी प्रकार की समानता को खोजना और भी कठिन काम हो जाता है।

इस आपत्ति के बारे में जैनों का कहना है, उपमान के बारे में सबसे महत्त्व की बात यह है कि यह वस्तुओं के बीच की समानताओं को देखता है। इसलिए यह कहना कि सर्वज्ञत्व असंभव है, न्यायोचित नहीं है।

आगम के बारे में मीमांसकों की मान्यता है कि, वेद के वही अंश, जिनमें आदेश तथा निषेध निहित है, प्रामाणिक हैं, और इनमें किसी सर्वज्ञ सत्ता का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। इसलिए सर्वज्ञत्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

जैन इस मान्यता का विरोध करते हैं; वे प्रमाण माने जानेवाले अपौरुषेय ग्रन्थों वाली इस धारणा पर ही हमला बोल देते है। क्योंकि धर्मग्रन्थ केवल पौरुषेय हो सकते है, और उनकी रचना के लिए सर्वज्ञ पुरुषों की जरूरत होती है, ताकि वे 'प्रामाणिक' हों, इसलिए सर्वज्ञ पुरुषों की संभावना स्वीकार्य है।

सर्वज्ञ की स्थिति में अर्थापत्ति वाला तर्क भी निर्णयात्मक नहीं है, मीमांसकों का कहना है। यद्यपि जिस रूप में मीमांसा दर्शन में इस तर्क को पेश किया गया है उससे सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है, मीमांसकों का मत है कि गुरु का आवश्यक रूप से सर्वज्ञ होना जरूरी नहीं है। तार्किक दृष्टि से उन्हें इसी स्थिति को स्वीकार करना पड़ता है, क्योंकि वे केवल वेद को ही ज्ञान का भंडार मानते हैं।

इस सम्बन्ध में जैनों का मत है कि, अर्थापत्ति का महत्त्व इस बात में है कि जब अन्य सभी प्रमाण निरुपयोगी सिद्ध होते हैं तब घटना की व्याख्या के लिए

इसका उपयोग होता है। सर्वज्ञ सत्ता अनुमेय है, और इसलिए उसे अर्थापत्ति की सहायता की आवश्यकता नहीं है।

मीमांसकों का कहना है कि अनुपलब्धि के प्रमाण से भी सर्वज्ञत्व सिद्ध नहीं होता। तर्क यह पेश किया जाता है कि अभाव का अनुभव हमें तभी होता है जब कि किसी सत्ता की अनुपस्थिति होती है। परन्तु सर्वज्ञ सत्ता का हम अनुभव नहीं कर सकते। हम केवल असर्वज्ञ सत्ताओं को ही सर्वत्र देखते हैं; इसलिए किसी सर्वज्ञ सत्ता की प्राप्ति असंभव है।

जैनों का उत्तर है: चूंकि अनुमान से सर्वज्ञ का अस्तित्व स्पष्टतः सिद्ध होता है, अतः सर्वज्ञ सत्ता का अस्तित्व अभाव जैसे प्रमाण द्वारा नकारा जाना असंभव है।

मीमांसक निर्ममता से विभिन्न विकल्पों को प्रस्तुत करते हैं, और बताते हैं कि इनमें से कोई भी विकल्प साध्य नहीं है। उनके मतानुसार, केवलज्ञान शब्द का अर्थ सभी वस्तुओं के बारे में ज्ञान हो सकता है या प्रमुख वस्तुओं से सम्बन्धित ज्ञान हो सकता है। यदि प्रथम विकल्प को स्वीकार किया जाता है तो आगे सवाल उठता है कि वस्तुबोध क्रमिक है या एककालिक। यदि बोध क्रमिक है तो यह सत्य नहीं है, क्योंकि वस्तुओं के क्रमिक बोध का अर्थ होता है अतीत, वर्तमान तथा अनागत की सभी वस्तुओं का बोध। परन्तु हमारा सामान्य अनुभव है कि वर्तमान की सभी वस्तुओं का बोध भी अत्यन्त दुष्कर है, तो फिर यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि वर्तमान की सभी वस्तुओं के अतिरिक्त अतीत तथा अनागत की सभी वस्तुओं का भी बोध हो सकता है? जैनों का उत्तर यह है कि, केवलज्ञान में सभी वस्तुओं का बोध क्रमिक नहीं बल्कि एक साथ ही होता है।

मीमांसकों का कहना है कि विभिन्न पदार्थों का एककालिक बोध नितान्त असंभव है। उनका प्रश्न है: उदाहरणार्थ, "ताप तथा शीत को एक साथ कैसे अनुभव किया जा सकता है?" अपनी इस महत्त्वपूर्ण मान्यता के समर्थन में जैन उत्तर देते हैं: जब आकाश में बिजली चमकती है तो हम एक साथ प्रकाश तथा अंधेरा देखते हैं।

मीमांसक का एक और दृष्टिकोण यह है कि यदि मान भी लिया जाय कि 'समस्त का बोध' संभव है, तो भी पूर्ण बोध के तुरंत बाद व्यक्ति मूर्छित हो जायगा और फिर उसे किसी अन्य बात का बोध नहीं होगा। जैनों का उत्तर है: सर्वज्ञत्व के बारे में विशेष बात यह है कि ऐसा कोई क्षणांश नहीं है जब कि बोध न होता हो, ज्ञान का विनाश नहीं होता, न ही संसार का होता है। अतः यह आपत्ति कि सिद्ध पुरुष मूर्छित हो जायगा, व्यर्थ है।

मीमांसक यह भी कहते हैं कि 'संपूर्ण ज्ञान' में सभी तृष्णाओं के ज्ञान का भी समावेश होता है, और इसलिए उस सिद्ध पुरुष पर तृष्णाओं का असर हो

सकता है तथा उसके ज्ञान में बाधाएं उत्पन्न हो सकती हैं, और इसलिए सर्वज्ञता के दावे को सिद्ध नहीं किया जा सकता। जैन इस तर्क को मिथ्या सिद्ध करते हैं। सभी तृष्णाओं के ज्ञान का अर्थ उनसे प्रभावित होना नहीं है। सिद्ध पुरुष होने का अर्थ ही यह है कि उस पर तृष्णाओं का कोई असर नहीं होता। इसके अलावा चूंकि, इन्द्रिय तथा मन ही आसक्ति के कारण हैं, और जब इन्द्रिय तथा मन का ही विनाश हो जाता है तो फिर सर्वज्ञ पुरुष में आसक्ति के पैदा होने का सवाल ही नहीं पैदा होता।

केवलज्ञान के विरोध में मीमांसक का अन्तिम प्रमुख तर्क यह है कि, चूंकि अनागत तथा अतीत का अनस्तित्व है, तो यदि उन्हें सिद्ध पुरुष में विद्यमान माना जाय तो इससे भ्रांति पैदा होगी। अतः सिद्धि बिलकुल संभव नहीं। जैन इस आपत्ति का उत्तर देते हैं: अतीत तथा अनागत का ज्ञान रखनेवाले सिद्ध पुरुष की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह अतीत को अतीत के रूप में देखता है और अनागत को अनागत के रूप में। अतः इस स्थिति में किसी प्रकार की भ्रांति पैदा नहीं होती।

केवलज्ञान के विरुद्ध उठायी गयी विभिन्न आपत्तियों के विवेचन से इस धारणा में निहित प्रमुख तत्त्व स्पष्ट हो जाता है। वह तत्त्व यह है कि, संपूर्ण प्रगति का मर्म परमोन्नति में निहित है और ज्ञानप्राप्ति की प्रक्रिया भी इसका अपवाद नहीं है।

अनुमान 12

अनुमान, जैसे कि साधारण व्यक्ति भी जानता है, 'परोक्ष' रूप से हमें ज्ञान प्रदान करता है। मनुष्य के इन्द्रियों के सम्पर्क में आयी हुई घटनाओं से तथा उसके संचित ज्ञान की सहायता से वह ज्ञेय से अज्ञेय तक पहुंच जा सकता है। ज्ञेय से अज्ञेय तक का यह मार्ग उसे नया ज्ञान देता है और इस प्रकार वह ज्ञान की अपनी सीमा का विस्तार करता है। परन्तु इस सारी प्रक्रिया में कुछ ऐसे तत्त्व मौजूद हैं जो एक संगत एवं सुदृढ़ विधि द्वारा यथार्थ अनुमान की प्राप्ति में सहायक होते हैं।

इस बात में विरोधाभास भले ही दिखाई देता हो, परन्तु यह सत्य है कि जैन दर्शन तथा परम्परागत हिन्दू दर्शन प्रत्यक्ष के बारे में विपरीत दृष्टिकोण अपनाते हुए भी अनुमान की प्रकृति के बारे में समान विचार रखते हैं। जैन मत (परम्परागत) की मूल धारणा यह है कि इन्द्रियों द्वारा जो बोध होता है वह परोक्ष है और इन्द्रियों की सहायता के बिना जो बोध होता है वह प्रत्यक्ष है। इस अर्थ में मतिज्ञान इतना व्यापक है कि उसमें अनुमिति का समावेश हो जाता है। परम्परागत हिन्दू दर्शनों में चूंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया है, इसलिए इन्द्रियगोचर ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहा गया है, और प्रत्यक्ष पर आधारित अनुमान-ज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहा गया है।

जैन दर्शन में अनुमान के दो प्रकार माने गये हैं : स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। प्रथम को विषयगत अनुमान कहा गया है और दूसरे को न्याय्य अनुमान। न्यायावतार से भी यह बात स्पष्ट होती है : "स्वयं तथा दूसरों के ज्ञान के लिए भी प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष तथा अनुमान की क्रियाओं की तरह इनको व्यक्त करनेवाले कथन भी उन्हीं संज्ञाओं से जाने जाते हैं, क्योंकि इनके माध्यम से दूसरों तक जानकारी पहुंचायी जाती है।"[1] यहां उद्धृत बाद के श्लोक हमारे संदर्भ में विशेष महत्त्व के हैं क्योंकि उनमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रतिज्ञा, हेतु सहित, अनुमान की तरह महत्त्व की है। इन श्लोकों का तात्पर्य यह है कि, जैन दर्शन में अनुमान के न्याय्य रूप को—व्यक्त तथा कल्पित दोनों को—पूर्ण मान्यता प्रदान की गयी है।

1. 'न्यायावतार', 10-13

अनुमान को नियत न्याय माना गया है, यह इस परिभाषा से स्पष्ट है : "अनुमान लिंग द्वारा निर्धारित साध्य का (साध्य-निश्चयक) ज्ञान है, और यह लिंग साध्य से दृढ़ना से सम्बन्धित रहता है।"[2] एक सरल परिभाषा भी है : "साधन द्वारा प्राप्त साध्य का ज्ञान अनुमान है।"[3]

अनुमान को कल्पित न्याय माना गया है, यह इस परिभाषा से स्पष्ट है : "अनुमान (एक वस्तु की दूसरी के सापेक्ष) उपस्थिति या अनुपस्थिति पर आधारित व्याप्तिज्ञान है, और इसका स्वरूप है : यदि यह है, तो वह है; यदि वह नहीं है, तो यह नहीं है। उदाहरणार्थ, जहां धुआं है, वहां अग्नि है : यदि अग्नि नहीं है, तो धुआ भी नहीं है।"[4]

विषयगत अनुमान में स्वयं निर्धारित प्रमाण से प्रमेय का ज्ञान होता है, और इसकी एकमात्र विशेषता यह है कि प्रमेय के साथ इसका अनिवार्य संयोग होता है।[5] 'अनिवार्य संयोग' का अर्थ यह है कि एक की अनुपस्थिति में दूसरा भी अनुपस्थित रहता है। व्यक्ति द्वारा प्रमाण का निश्चित बोध और प्रमाण तथा प्रमेय के स्थिर संयोग के पूर्वज्ञान से उसे नया ज्ञान होता है और यह विषयगत अनुमान है।

न्याय्य अनुमान का समावेश परार्थानुमान के अन्तर्गत होता है "न्याय्य अनुमान निर्णीत ज्ञान है और यह ऐसे प्रमाण के कथन से प्राप्त होता है जिसका प्रमेय के साथ अनिवार्य संयोग होता है।"[6] न्याय के अवयवों के बारे में जैन दृष्टिकोण का सार इन शब्दो मे है : "ज्ञानी पुरुष के लिए न्याय के प्रतिज्ञा तथा हेतु अवयव ही पर्याप्त हैं।"[7] जैन दृष्टि यह जान पड़ती है कि, अनुमिति के बारे में विशेष बात यह है कि प्रतिज्ञा प्रमेय के साथ अनिवार्य रूप से सम्बन्धित होने से प्रतिज्ञा की जानकारी से प्रमेय का अनुमान लगाया जा सकता है। प्रसिद्ध उदाहरण है : हमारे दैनन्दिन अनुभव से, धुआँ अग्नि के साथ अनिवार्य रूप से सम्बन्धित होने से, धुआं देखने पर अग्नि की उपस्थिति का अनुमान लगाया जाता है। जब हम प्रतिज्ञा को सुनते हैं, जब पहाड़ी पर धुआँ होने की प्रतिज्ञा प्रस्तुत की जाती है, तो सुननेवाला फौरन इस नतीजे (अनुमान) पर पहुंचता है कि पहाड़ी पर आग है। अत:, वस्तुत:, केवल दो अवयव:

"पहाड़ी पर आग है" (प्रतिज्ञा), और

2. वही, 5
3. 'परीक्षामुखसूत्र', III. 9
4. वही, 7-8
5. देखिये, एम० एल० मेहता, 'आउटलाइन्स ऑफ जैन फिलॉसफी', पृष्ठ 108-109
6. 'प्रमाण-मीमांसा', II. 1.1
7. वही, II. 1.1

"क्योंकि वहाँ धुआँ है" (हेतु)

ही अनुमिति के लिए पर्याप्त हैं। पाँच अवयवों वाले न्याय में से शेष तीन अवयव हैं :

"जहां धुआं होता है, वहां आग होती है, जैसे, रसोईघर में" (दृष्टांत)

"पहाड़ी पर वैसा ही धुआं है" (उपनय)

"इसलिए वहां पहाड़ी पर आग है" (निगमन)

जो उपपत्ति के लिए आवश्यक नहीं समझे जाते। अतः अब यह स्पष्ट है कि "ज्ञानी पुरुष के लिए पर्याप्त" शब्द (ऊपर उद्धृत श्लोक में) कितने महत्त्व के हैं, क्योंकि उनसे जाहिर हो जाता है कि जैन परम्परा में भी न्याय के पांच या दस अवयवों का उल्लेख क्यों है। जैसा कि जैन परम्परा में कहा गया है : विकल्प रूप से न्याय के पांच अथवा दस अवयव हैं। हम दोनों को न्याय्य मानकर स्वीकार करते हैं।"[8]

प्रमाण-मीमांसा में न्याय के पांच अवयवों की परिभाषाएं दी गयी हैं :

"प्रतिज्ञा साध्य-निर्देश का कथन है।"[9]

"साध्य की उपस्थिति को जाहिर करनेवाले लिंग का कथन हेतु है।"[10]

"उदाहरण दृष्टांत का कथन है।"[11]

"उपनय में व्याप्ति को प्रतिज्ञा (धर्मिन्) के साथ जोड़ा जाता है।"[12]

"निगमन में लिंगी का अस्तित्व स्थापित किया जाता है।"[13]

इस संदर्भ में यह बताना जरूरी है कि, यहां दूसरा अवयव महत्त्व का है, क्योंकि इसमें निगमन का संकेत होता है। दृष्टांत अथवा उदाहरण भी दो प्रकार के होते हैं : **साधर्म्य दृष्टांत** और **वैधर्म्य दृष्टांत**, जैसा कि इन कथनों से जाहिर है : "जहां धुआं है, वहां आग है" और "जहां आग नहीं है, वहां धुआं नहीं है।"

जैन तर्कशास्त्र में पांच अवयव तथा दस अवयव वाले न्याय को स्वीकार किया गया है, क्योंकि उन सामान्य व्यक्तियों के लिए उनकी उपयोगिता है जो न्यायशास्त्र के पंडित नहीं होते। ये उन संदेहों का निवारण करने के लिए उपयोगी हैं जो कि न्याय को सुननेवाले के मन में उठ सकते हैं।

8. 'दशवैकालिक-निर्युक्ति', 50
9. 'प्रमाण-मीमांसा,' II. 1.11
10. वही, II. 1 12
11. वही, II. 1.13
12. 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार', III .49-50
13. वही, III 51-52

दश-अवयव वाले न्याय की जानकारी हमें भद्रबाहु के दशवैकालिक-निर्युक्ति ग्रन्थ में मिलती है।[14] ये दस अवयव हैं :

प्रतिज्ञा (अहिंसा परम धर्म है)

प्रतिज्ञा-विभक्ति (जैन धर्मग्रन्थों के अनुसार अहिंसा परम धर्म है)

हेतु (जो अहिंसा का पालन करते हैं, उनपर देवताओं की कृपादृष्टि रहती है, और देवताओं का सम्मान करना पुण्यकार्य है)

हेतु-विभक्ति (जो व्यक्ति ऐसा करते हैं, वे उच्चतम धर्मस्थानों में पहुंच सकते हैं)

विपक्ष (परन्तु हत्या करके भी आदमी सम्पन्न हो सकता है और जैन धर्म-ग्रन्थों की निंदा करके भी कोई व्यक्ति पुण्य कमा सकता है, जैसा कि ब्राह्मणों के साथ होता है)

विपक्ष-प्रतिषेध (ऐसा नहीं होता; यह असंभव है कि जो जैन धर्मग्रन्थों की निंदा करते हैं उनपर देवताओं की कृपादृष्टि हो या उन्हें सम्मान मिले)

दृष्टांत (अर्हत् गृहस्थों से भोजन ग्रहण करते हैं, क्योंकि कीटाणु-हत्या के भय से वह अपना भोजन पकाना नहीं चाहते)

आशंका (परन्तु गृहस्थों के पाप अर्हतों को भी लगते हैं, क्योंकि वे उनके लिए भोजन पकाते हैं)

आशंका-प्रतिषेध (ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि अर्हत् अचानक ही कुछ घरों में पहुंचते हैं, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि भोजन उन्हीं के लिए पकाया गया था)

नैगमन (इसलिए अहिंसा परम धर्म है)

इस दश-अवयव वाले न्याय के बारे में दासगुप्त का कथन है : "विमर्श में अकसर कुछ अनुगामी वचनों को अपनाया जाता है, परन्तु, वस्तुतः इनकी कोई उपयोगिता नहीं होती।"[15] किन्तु दासगुप्त स्वीकार करते हैं कि न्याय-वैशेषिक के पांच अवयव वाले प्रसिद्ध न्याय के पहले दस अवयव वाले न्याय का अस्तित्व रहा है। वह लिखते हैं : "जब वात्स्यायन अपने न्यायसूत्र 1, 1.32 में कहते हैं कि अन्य तर्कविदों के दस अवयवों के स्थान पर गौतम ने पांच अवयवों वाला न्याय स्थापित किया, तो उनके मन में संभवतः जैनमत रहा होगा।"[16]

14. एस. एन. दासगुप्त द्वारा उद्धृत, पृ० 186
15. वही, पृ० 156
16. वही

तृतीय भाग : मनोविज्ञान

मन

13

मन के बारे में जैनों के विचार अन्य भारतीय दर्शनों के विचारों से भिन्न हैं। जैन मन को ज्ञानेन्द्रिय नहीं मानते। अन्य सभी दर्शनों में मन को एक ज्ञानेन्द्रिय माना गया है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार, सुख तथा दुःख के अनुभव के लिए **अन्तःकरण** की आवश्यकता होती है, और वही मन है। मीमांसा में भी मन को अन्तःकरण माना गया है। आत्मा तथा इसके कार्यकलापों के ज्ञान के लिए मन स्वतंत्र रूप से कार्य करता है, किन्तु बाह्य पदार्थानुभूति के लिए मन ज्ञानेन्द्रियों के साथ सहयोग करता है। मूल सांख्य मत भी यही है। इसमें मन के दो प्रकार के कार्य महत्त्व के माने गये हैं—संवेदक तथा चालक के कार्य। अतः मन ज्ञानेन्द्रिय तथा प्रेरक दोनों के कार्य करता है। वेदान्त में भी मन को अन्तःकरण माना गया है।

जैन दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शनों में महत्त्व का भेद यह है कि ज्ञान-मीमांसा के बारे में दोनों के विचार परस्पर-विरोधी हैं। अन्य भारतीय दर्शनों में इन्द्रियों के वस्तुओं के साथ के सम्पर्क से प्राप्त ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान माना गया है और जहां इन्द्रिय तथा वस्तुओं का प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित नहीं हुआ है फिर भी उसकी प्रामाणिकता सिद्ध की जा सकती है, ऐसा ज्ञान पंचेन्द्रियों के अलावा अन्य इन्द्रिय द्वारा प्राप्त माना गया है। एक संगत सिद्धांत को जन्म देने के लिए उन्होंने पांच इन्द्रियों की कोटि के एक 'छठे इन्द्रिय' की कल्पना की। इस प्रकार मन को ज्ञानेन्द्रिय का दर्जा प्राप्त हुआ। उदाहरणार्थ, सुख, दुःख आदि प्रत्यक्ष अनुभूतियां हैं, परन्तु पंचेन्द्रियों में से किसी एक से भी इनकी अनुभूति नहीं होती। अतः सुख दुःख आदि की अनुभूति के लिए पंचेन्द्रियों के अलावा एक अन्य इन्द्रिय—मन—की कल्पना को जरूरी माना गया, तर्कसंगत माना गया। इसी प्रकार अनुभवातीत ज्ञान (योगजप्रत्यक्ष) की कठिनाई को पंचेन्द्रियों के अलावा एक अन्य इन्द्रिय की कल्पना करके सुलझाया जा सकता है, क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान से अनुभवातीत ज्ञान नितांत भिन्न है।

विभिन्न प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने की मन की जो क्षमता है, उसको समझाने में जैन दार्शनिकों को कोई कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि उनके मतानुसार इन्द्रिय तथा मन से प्राप्त ज्ञान परोक्ष ज्ञान है; उन्होंने इन्द्रिय तथा मन को

प्रत्यक्ष ज्ञान के मार्ग की स्पष्ट बाधाएं माना है। परन्तु जैन ज्ञान-मीमांसा में इन्द्रिय तथा मन द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की विभिन्न विधाओं को स्वीकार किया गया है, और इसलिए उन्होंने मन को अनीन्द्रिय तथा नो-इन्द्रिय की कोटि का माना है। **सर्वार्थसिद्धि** में कहा गया है : "किसी लड़की को अनुदर इसलिए नहीं कहा जाता कि उसकी योनि ही नहीं है, बल्कि इसलिए कि उसकी योनि छोटी होने से गर्भाधान के उपयुक्त नहीं होती। उसी प्रकार, मन सामान्य इन्द्रियों की कोटि का नहीं होता, इसलिए अनीन्द्रिय कहलाता है।"[1]

जैन दार्शनिकों ने मन तथा इन्द्रियों के बीच कम-से-कम तीन भेद माने हैं। शरीर में इन्द्रियों के नियत स्थान हैं, परन्तु मन का कोई स्थान नहीं है। इन्द्रिय 'बहिर्मुखी' हैं और केवल बाह्य वस्तुओं को ही ग्रहण करते हैं, परन्तु मन 'अन्तर्मुखी' होता है और केवल भीतर की स्थिति को ही समझता है, इसलिए मन एक विशिष्ट वस्तु है और यह अन्तःकरण कहलाता है। प्रत्येक इन्द्रिय वस्तुओं को विशिष्ट रूप से ग्रहण करता है, परन्तु मन सभी इन्द्रियजन्य वस्तुओं को ग्रहण करने में समर्थ होता है। मन की इस क्षमता का एक कारण है इसका सूक्ष्म होना। इसलिए मन को सूक्ष्म इन्द्रिय भी कहते हैं।

ऊपर इन्द्रिय तथा मन में जो भेद बताया गया है, उसकी स्पष्ट चर्चा **तत्त्वार्थसूत्र**[2] तथा **तत्त्वार्थसूत्र भाष्य**[3] में भी देखने को मिलती है। विद्यानन्द कहते हैं, मन को इसलिए विशिष्ट माना गया है कि यह इन्द्रियों से भिन्न है। उनके मतानुसार, ज्ञानप्राप्ति का साधन होने से मन को यदि ज्ञानेन्द्रिय माना जाता है, तो अनुमान प्रक्रिया से ज्ञान प्राप्ति में सहायक होनेवाले धुएं को भी ज्ञानेन्द्रिय मानना चाहिए।[4] तात्पर्य यह कि मन को ज्ञानेन्द्रिय मानना उसी प्रकार अयुक्त है जिस प्रकार न्यायिक अनुमान में हेतु पद को ज्ञानेन्द्रिय मानना। इस तर्क की कमजोरी के बारे में एम० एल० मेहता लिखते हैं : "विद्यानन्द का यह तर्क केवल उसी मनोवैज्ञानिक की मान्यता का खण्डन कर सकता है जो मन को एक सामान्य ज्ञानेन्द्रिय मानता है। धुएं की बात निराली है, क्योंकि यह वस्तु है, आत्मा का साधन नहीं है। ज्ञानेन्द्रिय आत्मा का साधन होना चाहिए, क्योंकि आत्मा से ही वस्तुबोध होता है। धुआं बाह्य इंद्रियों द्वारा अनुभव की जाने वाली सामान्य वस्तु है। इसलिए मन की स्थिति सामान्य बाह्य ज्ञानेन्द्रियों की तरह नहीं है। इसे हम धुएं की तरह की वस्तु भी नहीं मान सकते। यह सुख, दुःख

1. 'सर्वार्थसिद्धि', I.14
2. 'तत्त्वार्थसूत्र', II.15
3. 'तत्त्वार्थसूत्र भाष्य', I.14
4. 'तत्त्वार्थ-श्लोक-वार्तिक', II.15

आदि को समझने में आत्मा को सहायता पहुंचानेवाला आन्तरिक साधन है।"[5]

मन की सबसे संगत परिभाषा हेमचन्द्र ने दी है। उनके अनुसार, सभी इन्द्रियों की वस्तुओं का ज्ञान करानेवाले अंग का नाम मन है।[6] यदि परिभाषा यही रहती कि सभी वस्तुओं को बोध करानेवाली चीज मन है, तो मन तथा आत्मा में कोई भेद नहीं रह जाता, क्योंकि आत्मा को भी वस्तुओं का बोध होता है। इन दोनों के बीच का स्पष्ट भेद यह है कि मन ज्ञानेन्द्रियों पर आश्रित होता है, परन्तु आत्मा के लिए ऐसे आश्रय की आवश्यकता नहीं है।[7] इसी प्रकार, विशेषावश्यक भाष्य में भी मानसिक प्रक्रियाओं में रूप में मन की परिभाषा दी गयी है।[8] नन्दीसूत्र में कहा गया है कि मन सब कुछ ग्रहण करता है (सर्वार्थ-ग्रहणं मनः)।[9]

यह परिभाषाएं बड़ी महत्त्व की हैं, क्योंकि इनमें मन द्वारा ग्रहण की जाने-वाली वस्तुओं की सूची से आत्मा को अलग रखा गया है। जब आदमी सर्वज्ञ की स्थिति पर पहुंच जाता है तो आत्मा, मन या इन्द्रियों की सहायता के बिना, प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है। इसलिए स्पष्ट है कि मन की अपनी सीमाएं हैं। मन परिपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति में सहायक नहीं होता, इसीलिए जैन दार्शनिकों ने इसे केवलज्ञान के मार्ग की एक स्पष्ट बाधा माना है।

उपर्युक्त परिभाषाओं एवं व्याख्याओं का एक स्पष्ट परिणाम यह है कि मन तथा आत्मा एक-दूसरे से भिन्न हैं। विभेद के इस सिद्धांत के प्रकाश में तथा जैनों द्वारा मान्य मन की सीमा के आधार पर हमें उनके द्वारा खण्डित बौद्ध सिद्धांत को समझने में आसानी होती है। जैनों द्वारा अस्वीकृत बौद्ध सिद्धांत पर विचार करने से हमें मन के जैन सिद्धांत के सही स्वरूप को समझने में सुविधा होती है। इस विवेचन से जैनों द्वारा मान्य आत्मा की विशेषता भी स्पष्ट हो

5. 'जैन साइकोलाजी', पृ० 69
6. 'प्रमाण-मीमांसा', I. 1.24
7. वही, टीका
8. 'विशेषावश्यक भाष्य', 3525
9. यह एक दिलचस्प बात है कि मन का ऐसा विश्लेषण—इसकी क्रियाओं के रूप में इसकी परिभाषा करना—न केवल भारतीय चिन्तन में, अपितु पाश्चात्य मनोविज्ञान में भी देखने को मिलता है। विलियम मैकडूगल अपने ग्रन्थ 'आउटलाइन्स' ऑफ साइकोलाजी', पृ० 36 में कहते हैं कि हमें सभी संभव मानवीय क्रिया-कलापों का अध्ययन करने के बाद ही मन का विवेचन करना चाहिए और फिर इनके आधार पर मन के स्वरूप एवं स्वभाव का निर्धारण करना चाहिए। आगे उसी ग्रंथ में (पृ० 42) वह कहते हैं कि स्वभाव तथा अन्तरालोकन इन दोनों के तथ्यों से अनुमान के आधार पर हमें जानकारी हासिल करनी चाहिए।

जाती है।

जैन दार्शनिक बाह्य अनुभवों को अर्थ सातत्य तथा संगति प्रदान करनेवाले एक अन्तरंग इन्द्रिय, मन, के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं तो यह स्वाभाविक है कि वह बौद्धों के उस **विज्ञानवाद** की आलोचना करें जिनके अनुसार विभिन्न क्षणिक अनुभूतियां अपने में एक शृंखला बनाती हैं।[10] जैसे, जैन व्याख्याता अकलंक कहते हैं कि यदि मन का कार्य पुनर्धारणा में वस्तुओं की तुलनात्मक अच्छाई या बुराई आदि निर्धारित करना है और मन यही करता है, तो फिर क्षणिक **विज्ञान** के साथ इसका तादात्म्य स्थापित करना असंभव है। क्योंकि तुलनाएं तथा पुनर्धारणाएं तभी संभव हैं जब पहले से ज्ञात वस्तु को पुनः मन के समक्ष लाया जा सके। परन्तु जन्म लेते ही नष्ट हो जानेवाले **विज्ञान** की स्थिति में ऐसा असंभव है।[11]

यहां यह बताना अनुपयुक्त न होगा कि जैनों ने मन तथा आत्मा में जिस प्रकार भेद दरशाया है उसे कुछ अन्य भारतीय दार्शनिकों (बौद्धों के अलावा) ने स्वीकार नहीं किया है। वह इस भेद को इस आधार पर अनावश्यक समझते हैं कि ज्ञानेन्द्रियों के विरोध में (१) मन, और आत्मा भी, बाह्य जगत् की वस्तुओं को असीम रूप से ग्रहण करने में समर्थ हैं, (२) मन, आत्मा की ही तरह, किसी वस्तु-विशेष के सम्पर्क के लिए 'सहयोग की स्थिति' की सीमा से आबद्ध नहीं है, क्योंकि इसके अन्तर्गत सभी चेतन तथा अनुभवजन्य प्रक्रियाओं का समावेश होता है।

इस भेद को बनाये रखने के लिए जैनों ने दो प्रकार के मन की कल्पना की—**द्रव्यमन** और **भावमन**। प्रथम प्रकार का मन सूक्ष्म द्रव्य से बना होने से द्रव्यमन कहलाया। **विशेषावश्यक भाष्य** के अनुसार, मन के कार्य-कलाप इसके अनगिनत सूक्ष्म एवं संलग्न परमाणुओं के संयोजन से सम्पन्न होते है। यह भी जानकारी मिलती है कि द्रव्यमन सूक्ष्म क्षणों का समूह है और ये कण जीव तथा शरीर के **योग** से उत्पन्न विचार-प्रक्रियाओं को उत्तेजित करते हैं।[12]

भावमन में मानसिक क्रियाएं घटित होती है। जैनों का दृढ़ विश्वास है कि आत्मा के ज्ञानप्राप्ति के मार्ग में बाधक होनेवाले **कर्मों** का जब तक विनाश नहीं होता तब तक ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है। ज्ञानावरोधक **कर्मों** का विनाश तथा बाद में मन की ग्रहणशक्ति की तैयारी को **लब्धि** कहा गया है। इसके अलावा, आत्मा का चेतन मानसिक क्रिया में स्पष्ट रूपान्तर होना भी जरूरी

10. बौद्धों ने इस शृंखला को विज्ञान या चित्त कहा है।
11. एच० एस० भट्टाचार्य द्वारा उद्धृत, पूर्वो० पृ० 241-242
12. 'विशेषावश्यक भाष्य' 3525

है। स्पष्टत: मन के यह दो ऐसे रूप हैं जिनमें स्पष्ट भेद कर पाना संभव नहीं है। यह एक ही कार्य के दो अन्योन्याश्रित रूप हैं—यदि हम मन की क्रियाओं को इस प्रकार व्यक्त करें—यह बात भट्टाचार्य ने स्पष्ट रूप से दरसायी है : "जब तक आत्मा में लब्धि का उद्गम नहीं होता, तब तक आंतरिक चेतन क्रियाएं (तुलना, धारणा, इत्यादि) असंभव हैं। और, जब तक इन मानसिक क्रियाओं को चालू रखने का विषयगत प्रयास नहीं होता, यानी जब तक उपयोग नहीं होता, तब तक ये आन्तरिक प्रक्रियाएं असंभव हैं।"[13]

जैन दार्शनिकों ने मन और आत्मा के बीच यांत्रिक भेद नहीं किया है; यह इस बात से भी स्पष्ट है कि उन्होंने मानसिक कार्यों को उचित रूप से निभाने के लिए आत्मा के रूपान्तर पर जोर दिया है। मन के क्रिया-कलाप भी योग्य तथा अयोग्य के बीच भेद करने में समर्थ हैं। एक जैन ग्रंथ गोम्मटसार में कहा गया है : "मन की मदद से कोई भी सीख सकता है, समझ सकता है, इशारे कर सकता है, आदेश ग्रहण कर सकता है, बातचीत सुन सकता है···। मनके द्वारा ही व्यक्ति यह निर्णय लेता है कि कोई काम करना चाहिए या नहीं करना चाहिए। मन से ही यह जाना जाता है कि कोई वस्तु यथार्थ है या अयथार्थ। जब किसी को नाम लेकर बुलाया जाता है तो यह मन ही है जिसके कारण आदमी उत्तर देता हैं :"[41]

अन्त में, यह जानना उपयोगी होगा कि मन के भौतिक घटक, जिन्हें पौद्गलिक कहा गया है और जो विशिष्ट द्रव्याणुओं (मनो-वर्गणा) से बने हैं, स्थायी होते हैं, जब कि इसके रूपान्तर, जो कि मानसिक कार्य-कलापों के लिए जिम्मेदार होते हैं, स्थायी नहीं होते। परन्तु परमाणुओं के संयोजन को जो भी महत्त्व दिया गया हो, यह ध्यान में रखरा जरूरी है कि सर्वज्ञ की स्थिति में मानसिक क्रिया का या इन्द्रियानुभूति का कोई नामो-निशान नहीं रहता।

13. देखिये, एच० एस० भट्टाचार्य पूर्वो, पृ० 243-244
14. 'गोम्मटसार जीवकांड' 662

संवेदन और प्रत्यक्ष ज्ञान 14

भारतीय दर्शनों के कुछ संस्कृत शब्दों का यूरोप की भाषाओं में अनुवाद करते हुए या उनके लिए यूरोपीय दर्शनों में समकक्ष धारणाओं की खोज करते हुए हम कई बार शब्दों के बीच सूक्ष्म किन्तु महत्त्व के भेदों पर विशेष ख्याल नहीं देते। एक ही दर्शन में मौजूद कुछ मतान्तरों के कारण भी मूल धारणाओं के सम्बन्ध में बड़ी गड़बड़ी पैदा होती है। संवेदन तथा प्रत्यक्ष ज्ञान सम्बन्धी जैन धारणाओं का अपूर्ण विश्लेषण करने से भी ऐसी गड़बड़ी पैदा हो सकती है। भारतीय धारणाओं की पाश्चात्य धारणाओं के साथ यांत्रिक तुलना करने की जल्दबाजी में कई विद्वान गलत रास्ते पर पहुंच गये हैं।

जैन ज्ञान-मीमांसा की दो विशिष्ट धारणाएं हैं—दर्शन और ज्ञान। इनका विवेचन हम पहले कर चुके हैं। अकसर हम देखते हैं कि दर्शन को संवेदन माना जाता है और ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान। ज्ञान के विकास के यह दो स्तर—दर्शन और ज्ञान—दो मनोवैज्ञानिक स्तरों—संवेदन और प्रत्यक्ष ज्ञान—के तुल्य माने जाते हैं। ऐसी तुलना में गलत कुछ नहीं है, किन्तु इसकी सीमाओं को ध्यान में रखना जरूरी है।

संवेदन और दर्शन को गलती से एक समझने का एक कारण यह है कि दोनों ही आत्म-चेतना के विकास में महज जैविक स्तर से विकसित एक स्तर के द्योतक हैं। जैन चेतना-सिद्धान्त में आत्म-चेतना के विकास के महत्त्व को हमें नहीं भूलना चाहिए। 'चेतना के सातत्य' का यह सिद्धांत यह भी बताता है कि चेतना के सुषुप्त तथा पूर्ण जागृत दोनों स्तर हैं। प्रथम स्तर उस स्थिति का द्योतक होता है जब अभी संवेदना पैदा भी नहीं हुई होती, और दूसरा स्तर चेतना के विकास में आत्मानुभूति के उच्च स्तर का द्योतक होता है। संवेदन के स्तर और दर्शन का अर्थ यह है कि चेतना के निश्चेष्ट स्तर का अंत हो गया है और संवेदना के स्तर की शुरूआत हो चुकी है।

इन दोनों में अंतर है, यह स्वयं चेतना के विकास के तर्क से स्पष्ट है। जैन शब्द सत्तामात्र ऐसे स्तर का द्योतक है जो विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं की अनुभूति होने के पहले का है। परन्तु यह स्तर भी, पहले के स्तर की तरह, अनिर्धार्य है और बाद के प्रत्यक्ष ज्ञान के निर्धार्य स्तर से स्पष्ट रूप से भिन्न है।

फिर भी, सिर्फ चेतना और संवेदना की चेतना में जो सूक्ष्म अन्तर है वह अत्यंत महत्त्व का है।

हम देखते हैं कि जैन परम्परा में भी कुछ ऐसे दार्शनिक हैं जो संवेदन और अवभान में स्पष्ट भेद नहीं करते। उनके मतों पर विचार करने से हमें उन सीमाओं की जानकारी मिल जाती है जिनके अन्तर्गत एक ओर दर्शन तथा ज्ञान में तुलना की जा सकती है और दूसरी ओर संवेदन तथा प्रत्यक्ष ज्ञान में।

उमास्वामि के अनुसार ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सम्बन्धित वस्तुओं की निःशंक चेतना ही संवेदन (दर्शन) है।[1] इसी प्रकार, आवश्यक निर्युक्ति में संवेदनाओं की चेतना को दर्शन कहा गया है। वहां वस्तुओं के विशिष्ट गुणों की कोई चर्चा नहीं की गयी है।[2]—इन मतों के अनुसार वस्तु के अस्तित्व की सामान्य संचेतना ही संवेदन (दर्शन) है।

जब हम अवभान तथा ज्ञान के सम्बन्ध का विश्लेषण करते हैं, तो स्पष्ट होता है कि इस उपर्युक्त मत में संवेदन तथा अवभान के बीच भेद की उपेक्षा की गयी है। यद्यपि यह माना गया है कि अवभान अनिर्धार्य है और ज्ञान निर्धार्य है, परन्तु संवेदन को अवभान के साथ मिलाने का अर्थ यह होगा कि अवभान ज्ञान का ही एक स्वरूप है। जैसे, सिद्धसेन का मत है कि आरंभिक दौर के बोध को ही अवभान कहते हैं। यह आरंभिक स्तर ही संवेदन है।[3] इस स्थिति में कठिनाई यह है कि अवभान (दर्शन) अनिर्धार्य है और इसलिए इसे निर्धार्य ज्ञान का एक स्वरूप मानना उचित नहीं है।[4]

अवभान को संवेदना मानने से जो विरोधाभास पैदा होता है, उससे मुक्ति पाने के लिए ज्ञानप्राप्ति के तीन स्तरों को स्वीकार किया गया है। प्रथम स्तर अवभान का है, दूसरा संवेदना का और तीसरा स्तर प्रत्यक्ष ज्ञान का है। इस मत के अनुसार, संवेदना प्रत्यक्ष ज्ञान के पहले का स्तर तो है, परन्तु यह अवभान के बाद का स्तर है। इस मत के अनुयायी विभिन्न जैन दार्शनिकों ने इस विचार को विभिन्न तरीकों से व्यक्त किया है।

पूज्यपाद कहते हैं : "वस्तु और ज्ञानेन्द्रियों के सन्निकर्ष से अवभान (दर्शन) का जन्म होता है। उस वस्तु के तदनंतर के बोध को संवेदना कहते हैं; जैसे, (दृष्टि द्वारा) यह बोध कि 'यह श्वेत रंग है।'"[5] यहां स्पष्ट हो जाता है कि

1. 'तत्त्वार्थसूत्र', I.15
2. 'आवश्यक-निर्युक्ति', 3
3. देखिये, 'सम्मतितर्कप्रकरण', II.21
4. देखिये, एम. एल. मेहता, 'जैन साइकोलॉजी,' पृ० 75
5. 'सर्वार्थसिद्धि', I.15

संवेदना अवभास या दर्शन से भिन्न है। अकलंक भी इनमें इसी प्रकार का भेद करते हैं। वह कहते हैं : "वस्तु तथा ज्ञानेन्द्रियों के सन्निकर्ष के तुरंत बाद जिस शुद्ध अवभान का जन्म होता है, उसके बाद ही विशिष्ट स्वरूपवाली निर्धार्य संवेदना अस्तित्व में आती है।"[6] इसी प्रकार, विद्यानन्द ने ज्ञान की परिभाषा दी है : "ज्ञानेन्द्रिय तथा वस्तु के सन्निकर्ष से जनित अवभान (दर्शन) के बाद उस वस्तु के विशेष गुणों का होनेवाला बोध ज्ञान है।"[7] इस प्रकार, इन दार्शनिकों की मान्यता है कि ज्ञान की जटिल प्रक्रिया में प्रथम स्तर अवभान का है, जिसमें वस्तु तथा ज्ञानेन्द्रिय के सन्निकर्ष के परिणाम-स्वरूप मात्र संचेतना का उदय होता है। संवेदना के दूसरे स्तर में वस्तु के कुछ विशिष्ट गुणों का बोध होता है। तीसरे स्तर में, प्रत्यक्ष ज्ञान के स्तर में, वस्तु की 'पहचान' भी हो जाती है; जैसे यह पता चलता है कि वस्तु किस वर्ग की है, आदि। इस प्रकार, संवेदना को ज्ञान का ही एक स्वरूप माना जाता है और ये दोनों ही निर्धार्य हैं।

अवभान तथा ज्ञान के बीच जो भेद है और ज्ञान के अन्तर्गत संवेदना का जो समावेश किया जाता है, उसके बारे में वादिदेव कहते हैं कि यह सत्ता की प्राथमिक व्यापकता तथा गौण व्यापकता के बीच के भेद की तरह है। केवल अवभान (दर्शन) में ही सत्ता की प्राथमिक व्यापकता की संचेतना होती है। संवेदना तथा प्रत्यक्ष ज्ञान में केवल गौण व्यापकता का बोध होता है। संवेदना के साथ जो प्रक्रिया शुरू होती है उसकी परिणति प्रत्यक्ष ज्ञान में होती है। वादिदेव कहते हैं : "वस्तु तथा ज्ञानेन्द्रिय के सन्निकर्ष से जनित अवभान (दर्शन) से पैदा हुए गौण सामान्य गुण से निर्धारित ज्ञान का प्रथम स्तर संवेदना है, और मात्र सत्ता ही इसका उद्देश्य है।"[8]

जैन परम्परा के अनुसार संवेदना चार प्रकार की है : दृष्टिगत, अदृष्टिगत, अतीन्द्रिय तथा शुद्ध[9]। दृष्टिगत संवेदना इस बात की द्योतक है कि आंखों की चेतना प्रभावित हुई है। अदृष्टिगत संवेदना अन्य ज्ञानेन्द्रियों—कान, नाक, जीभ तथा त्वचा—के 'अहंकार' की द्योतक है। अतीन्द्रिय संवेदना, जैसे कि नाम से ही स्पष्ट है, ज्ञानेन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना ही इन्द्रिय-संचेतना की संभावना की ओर निर्देश करती है। चौथे प्रकार की संवेदना आदमी द्वारा विश्व की सभी वस्तुओं को ग्रहण करने की क्षमता की द्योतक है।

ज्ञान चेतना के विकास का उन्नत स्तर होने से अधिक जटिल भी है। जैन

6. देखिये, एम. एल. मेहता, 'जैन साइकोलॉजी', पृ० 75
7. 'तत्त्वार्थ-श्लोक-वार्तिक', I.15.2
8. 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार', II.7
9. 'पंचास्तिकाय, समयसार', 48, 'द्रव्य-संग्रह', 4

ज्ञान-मीमांसा में ज्ञान के आठ प्रकार माने गये हैं : आभिनिबोधिक या मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय, केवल, कुमति, कुश्रुत और विभंग।[10] इनमें से अंतिम तीन प्रकार क्रमशः मति, श्रुत तथा अवधि की मिथ्यावस्थाएं हैं, इसलिए ज्ञान के मनोविज्ञान के विवेचन में वस्तुतः इनका कोई महत्त्व नहीं है।

ज्ञान संवेदना पर आधारित होने पर भी इससे अधिक जटिल है। ज्ञान चेतना के विकास का एक विशिष्ट स्तर है, यह जैन परम्परा में मान्य तीन प्रकार के मतिज्ञान पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है। मतिज्ञान के यह तीन प्रकार हैं : उपलब्धि, भावन और उपयोग।[11] कहीं-कहीं पांच प्रकार के मतिज्ञान के भी उल्लेख मिलते हैं। यद्यपि 'मतिज्ञान के प्रकार' शब्दों का व्यवहार किया गया है, परन्तु महत्त्व की बात यह है कि उनके उल्लेख के बाद बताया जाता है कि वह सब एक हैं, जिसका स्पष्ट अर्थ है कि वह मतिज्ञान के विभिन्न रूपों के द्योतक हैं। उदाहरणार्थ, तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है : "मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता तथा अभिनिबोध मूलतः एक ही हैं।"[12]

इन्हीं विभिन्न घटकों के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया जटिल है। जहां तक प्रत्यक्ष ज्ञान के ऊपर उल्लिखित तीन स्वरूपों का प्रश्न है, यद्यपि उपलब्धि, भावन तथा उपयोग शब्दों के अर्थ निश्चित रूप से भिन्न हैं, तथापि अंतिम दो के बिना उपलब्धि संभव न होगी, और इस प्रकार यह अधूरी ही रह जायगी। ज्ञान के पांच रूपों के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। और फिर, इन दोनों प्रकार के विश्लेषणों से पता चलता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान न केवल ज्ञानेन्द्रियों पर अपितु मन पर भी निर्भर है। तत्त्वार्थसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों या मन पर आश्रित रहता है। प्रथम प्रकार के ज्ञान को इन्द्रिय-निमित्त मतिज्ञान कहा गया है और दूसरे प्रकार को अनीन्द्रिय-निमित्त मतिज्ञान।[13] ऊपर ज्ञान के विभिन्न स्वरूपों के किये गये विश्लेषण के प्रकाश में यह मत कि "जैन मनोवैज्ञानिक यह नहीं कहते कि पूर्ण विकसित ज्ञान मात्र मनोविक्षिप्ति है"[14] इस रूप में स्वीकार किया जा सकता है कि यह जैनों के ज्ञान सिद्धांत का स्पष्ट द्योतक है।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि संवेदना तथा प्रत्यक्ष ज्ञान से सम्बन्धित जैन मनोविज्ञान दर्शन तथा ज्ञान की धारणाओं से पूर्णतः स्पष्ट नहीं होता। दर्शन तथा ज्ञान और संवेदना तथा प्रत्यक्ष ज्ञान के बीच की समानताओं को दरशाया तो जा सकता है, किन्तु इस तुलना की अपनी सीमाएं हैं।

10. 'पंचास्तिकाय, समयसार', 41, 'द्रव्य-संग्रह', 5
11. 'पंचास्तिकाय, समयसार': 42
12. 'तत्त्वार्थसूत्र', I.10 13. वही, I.14
14. एच. एस. भट्टाचार्य, पूर्वो., पृ० 299

संवेग तथा अनुभूतियां 15

संवेग एवं अनुभूतियों के विश्लेषण का दार्शनिक महत्त्व इस बात में है कि यह आदमी को सच्चा मानवीय व्यक्ति, जो कि वह मूलत: है, बनने के मार्ग तथा उपाय सुझाता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के उद्देश्य के बारे में हम यह कह सकते हैं कि, यह मानव व्यक्तित्व के संपूर्ण समाकलन की नैसर्गिक आवश्यकता का पोषण करता है। आदमी को कैसा होना चाहिए, इस बात की बजाय वह कैसा है, इसी के आधार पर दार्शनिकों ने मानव मन की विविध अवस्थाओं, विशेषत: उनके एकांगी विकास से जनित खतरों के बारे में विचार किया है। इसीके आधार पर हम समझ सकते हैं कि भारतीय दार्शनिकों ने मन के नियंत्रण पर बार-बार इतना जोर क्यों दिया है। व्यक्तित्व को पूर्णता तक पहुंचाने के लिए भारतीय चिन्तन परम्परा में जो पुरातन उपाय बताया गया है वह यह है कि, यदि आदमी जीवन की चरम सीमा (जिसके बारे में आस्तिक तथा नास्तिक दार्शनिकों के अपने-अपने मत हैं) पर पहुंचना चाहता है, तो उसे, 'अपने भीतर' देखना चाहिए और अपनी आत्मा से सम्बन्धित सभी अशुद्धियों को दूर करना चाहिए।

चूंकि जैन दार्शनिकों के अनुसार जीवन का उद्देश्य चेतना की पूर्वकालिक शुद्धता को पुन: प्राप्त करना है, इसलिए हम देखते हैं कि वे जीव को अजीव से मुक्त कराने की आवश्यकता पर बल देते हैं। क्योंकि जीव तथा अजीव का सम्पर्क कर्म के अणुओं के कारण होता है, इसलिए चेतना को इसकी तन्द्रा से मुक्त करके शुद्ध करने का अंतिम उपाय यही है कि कर्म का आगमन रोक दिया जाय।

संवेगों तथा अनुभूतियों के जैन सिद्धान्त के दर्शन हमें उनकी जीव की वस्तुनिष्ठ व्याख्या में होते हैं। यद्यपि अनुभवातीत दृष्टि से जीव शुद्ध चेतना के अलावा और कुछ नहीं है, प्रायोगिक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि अविद्या के प्रभाव के कारण यह कषायों यानी विकृतियों से घिरा रहता है। चूंकि जीव तथा अविद्या दोनों ही अनादि हैं, अत: यह बताना आसान नहीं है कि जीव अविद्या के संपर्क में कब आया। वस्तुत: उनका सम्पर्क भी अनादि है।[1] बोध यानी

1. उमेश मिश्र, पूर्वो०, पृ० 262

काय, वाक् तथा मन के परिस्पंदन इन कषायों की मदद करते हैं। तत्त्वार्थ-सूत्र में भी कषाय तथा योग इन दोनों को बन्धन के कारण बताया गया है।[2] अतः यह स्पष्ट है कि मानव अस्तित्व के उद्देश्य का जैन विश्लेषण संवेगों तथा अनुभूतियों के विश्लेषण से विशेष रूप से सम्बन्धित है।

संवेग के विश्लेषण से अनुभूति का विश्लेषण सरल है, क्योंकि अनुभूति का विश्लेषण शरीर की संवेदनाओं से सम्बन्धित है, जब कि संवेग का विश्लेषण मन से सम्बन्ध रखता है। जैन शब्दावली के अनुसार वेदनीय कर्म इन्द्रियानुभूति के लिए जिम्मेवार है और मोहनीय कर्म संवेगों के लिए।

जैन दार्शनिकों का कहना है कि सभी अनुभूतियों के मूल में कषाय तत्त्व होता है, क्योंकि इसीसे सुख या दुःख के संवेदन उत्पन्न होते हैं। ऐसी कोई चीज नहीं है जिसे सभी लोग सुख मानें और ऐसी भी कोई चीज नहीं है जिसे सभी दुःख मानें। उत्तराध्ययन-सूत्र का कहना है कि विकारी व्यक्ति ही सुख तथा दुःख की शारीरिक एवं मानसिक वेदनाओं का अनुभव करता है।[3] विरक्ति या संवेग से सुख की निष्पत्ति नहीं होती। प्रेम या द्वेष के कारण ही आदमी को सुख या दुःख की अनुभूति होती है। दुनिया की कोई भी चीज ऐसे किसी आदमी को सुख या दुःख का अनुभव कराने की शक्ति नहीं रखती जो इनसे विरक्त रहने के बारे में दृढ़निश्चय हो।

सुख तथा दुःख के प्रति विरक्ति की अवस्था, जिसे जैन जीवन की चरमोन्नति मानते हैं, केवलज्ञानी की धारणा में देखने को मिलती है। पहले हमने मानव जीवन में ज्ञानेन्द्रियों तथा मन की बाधक भूमिका के बारे में जो चर्चा की है (जो ज्ञान-मीमांसा के संदर्भ में थी) उससे स्पष्ट हुआ है कि सर्वज्ञ अथवा केवलज्ञानी की अवस्था में आदमी सुख या दुःख से प्रभावित नहीं होता। तत्त्वार्थ-सूत्र में केवलज्ञानी ऐसे व्यक्ति को कहा गया है जो हर प्रकार की इच्छा (रति) तथा अनिच्छा (अरति) से मुक्त होता है।[4] अतः जाहिर है कि ऐसे व्यक्ति को सुख या दुःख की कोई अनुभूति नहीं होती। परिकल्पना के अनुसार, चूंकि केवलज्ञानी पुरुष सभी सीमाओं से अपने को मुक्त कर चुका होता है: और तब परमसुख का अनुभव करने के रास्ते में कोई बाधा नहीं रह जाती, इसलिए वह ऐसे सुख या दुःख के परे चला जाता है जिनका उद्गम इन्द्रियों तथा मन में होता है।

यहां एक दिलचस्प सवाल पैदा होता है। यदि सुख तथा दुःख शुद्ध विषय-

2. 'तत्त्वार्थसूत्र', VIII. 1
3. 'उत्तराध्ययनसूत्र', XXXII. 100-106
4. 'तत्त्वार्थसूत्र', X. 1

निष्ठ अनुभव हैं, तो क्या अनुभूतियों के निर्माण में बाह्य-जगत् कोई भूमिका अदा नहीं करता ? यद्यपि जैनों का दृढ़ मत है कि बाह्य-जगत् निमित्त कारण नहीं है, वे यह भी नहीं कहते कि बाह्य-जगत् बिलकुल ही कोई भूमिका अदा नहीं करता। वे इन अनुभूतियों को **अजीव** की बजाय **कर्म** के साथ जोड़ते हैं। उनके मतानुसार अनुभूति-जनक कर्म ही सुख तथा दुःख की अनुभूतियों के जन्म के लिए जिम्मेवार हैं। **सातवेदनीय कर्म** सुख का अनुभव कराता है और **असातवेदनीय कर्म** दुःख का अनुभव कराता है। इस प्रकार, अनुभूति-जनक कर्म की फल-निष्पत्ति के लिए बाह्य-जगत् एक सहायक कारण है। यही एक मात्र माध्यम है जिससे मनुष्य सुख या दुःख का अनुभव करता है। यदि तदनुरूप कर्म का उद्भव नहीं होता, तो सिर्फ बाह्य वस्तु को सुख या दुःख की अनुभूति के उद्भव के लिए पर्याप्त नहीं माना जा सकता।[5]

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुभूति की उत्पत्ति में वस्तु-जगत् एक सांकेतिक भूमिका ही अदा करता है। सम्बन्धित वस्तु (चाहे वह निमित्त कारण हो) अत्यावश्यक न होकर केवल एक सहायक कारण है। क्योंकि, जैसा कि मेहता ने कहा है, यदि यह स्वीकार नहीं किया जाता, तो एक के लिए जो वस्तु सुखदायक होगी वह सबके लिए सुखदायक होगी। दुःखदायक वस्तुओं के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। इसके अलावा, विभिन्न संवेदनाएं एक ही अनुभूति को जन्म दे सकती हैं और एक ही संवेदन से विभिन्न चित्तवृत्तियों में विभिन्न अनुभूतियां उत्पन्न हो सकती हैं।[6]

जैन विश्लेषण का निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को सुख तथा दुःख की अनुभूति होनी ही चाहिए, यह अनिवार्य नहीं है। वह अपनी इच्छाशक्ति का उपयोग करके एक ऐसे स्तर पर भी पहुंच सकता है जहां सुख-दुःख का उस पर कोई असर नहीं होता। ऐसे स्तर पर पहुंचने पर मनुष्य पूर्णावस्था को प्राप्त करता है।

संवेग की प्रकृति अधिक जटिल होती है, और इसीलिए हमें विभिन्न प्रकार के संवेगों के बारे में जानकारी मिलती है। इस धारणा का मुख्य विश्लेषण हमें **कर्म** के सम्बन्ध में देखने को मिलता है। आठ में से एक प्रकार के कर्म—**मोहनीय कर्म**—को मानवीय संवेगों की उत्पत्ति के लिए जिम्मेवार माना जाता है। मोहनीय कर्म का **दर्शनावरण** तथा **चारित्र मोहनीय** में विभाजन जैनों के संवेगों के सिद्धांत की मनो-नैतिक विशेषता का द्योतक है। जैसा कि मेहता ने लिखा है : "....संवेग की जैन धारणा शुद्ध रूप से मनोवैज्ञानिक नहीं है, यह मनो-नैतिक है। हम इन दोनों को अलग नहीं कर सकते, क्योंकि यह धारणा मूलतः सदा-

5. एम० एल० मेहता, 'जैन साइकोलॉजी', पृ० 115
6. वही, पृ० 115-116

चरण के सिद्धांत पर आधारित है।"[7]

ऊपर जिन दो प्रकार के मोहनीय कर्म का उल्लेख किया गया है, उनसे हमें पता चलता है कि जैन दर्शन में संवेगों के सिद्धांत को दार्शनिक विवेचन में किस प्रकार से उपयोग में लाया गया है। उन दो मोहनीय कर्मों में से पहले का अन्य सम्यक् दृष्टि के अवरोध के कारण होता है। इसका उपसिद्धांत यह है कि, सदाचरण भी असंभव हो जाता है। यह सभी जानते हैं कि, जब तक किसी व्यक्ति में आध्यात्मिक आस्था नहीं होती, तब तक उसके सही रास्ते पर आगे बढ़ने की तनिक भी संभावना नहीं होती। गोम्मटसार में कहा गया है कि "संवेग में यह शक्ति होती है कि वह आत्मा द्वारा आध्यात्मिक वृत्ति, आंशिक आचरण, पूर्ण आचरण तथा सदाचरण की प्राप्ति में बाधा पैदा करे।"[8]

जैन ग्रन्थों में चार प्रकार के संवेगों के बारे में जानकारी मिलती है। ये हैं: क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमें से प्रत्येक को पुनः चार प्रकारों में बांटा गया है, इसलिए कुल मिलाकर सोलह प्रकार के संवेग हैं। प्रत्येक संवेग के चार भेद ये हैं : (1) अनन्तानुबन्धी, जो आध्यात्मिक आस्था को रोकता है; (2) अप्रत्याख्यानावरण, जो आंशिक आचरण के मार्ग में बाधा डालता है; (3) प्रत्याख्यानावरण, जो पूर्ण आचरण की चाह को रोकता है; और (4) संज्वलन, जो परिपूर्ण आचरण को भग्न करता है, और इस प्रकार अर्हत् पद की प्राप्ति में बाधा डालता है।[9]

उपर्युक्त संवेगों के अलावा, नौ नोकषाय यानी अल्प संवेग भी बताये गये हैं। ये हैं : हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, और नपुंसकवेद।[10]

मनुष्य के मनोविकार उसके विभिन्न प्रकार के कार्यों में प्रकट होते हैं और ये फिर उसे जीवन के विविध अनुभवों के बंधनों में जकड़ते जाते हैं। भारतीय चिंतन के अनुसार, मनुष्य यदि मनोविकारों तथा कषायों में फंस जाता है, तो फिर उसे जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति नहीं मिल सकती। चूंकि संवेगों की तीव्रता न्यूनाधिक होती है, इसलिए उनसे फलित कार्यों का प्रत्येक जीव पर प्रभाव भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है और यह प्रभाव जीव के 'बन्धन-काल' का निर्धारण करता है। कषायों द्वारा प्रभावित कर्म को लेश्य कहा गया है।[11] यहां हमें

7. वही, पृ० 122
8. 'गोम्मटसार', 282
9. 'सर्वार्थसिद्धि', VIII. 9
10. वही, VIII. 9
11. 'गोम्मटसार', 489

लेश्य के विभिन्न भेदों की चर्चा नहीं करनी है; इतना ही जानना पर्याप्त होगा कि कषाय सामान्यत: इन्द्रियों को विषय-भोग की वस्तुओं में लिप्त होने की प्रेरणा देते हैं। इस संदर्भ में एक महत्त्व की बात बताते हुए के० सी० सोगानी लिखते हैं कि इससे उस मत का समर्थन ही होता है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान कषायों द्वारा प्रभावित रहता है। इनका प्रभाव इतना अधिक होता है कि जब सुखदायक वस्तुएं दूर चली जाती हैं और दु:खदायक वस्तुएं समीप आती हैं, तो आदमी विचलित हो जाता है और अपना मानसिक संतुलन खो बैठता है।[12]

सारांश यह कि, मनोविकार (जिससे मानसिक संतुलन भी चला जाता है) का परिणाम यह होता है कि जीव कर्म के चक्र में अधिकाधिक फंसता जाता है। अत: जैनों का संवेग का सिद्धांत उनके नीति सिद्धांत के इस माने में अनुरूप है कि दूसरे में यह स्पष्ट बताया गया है कि इन्द्रियजन्य तथा मानसिक संवेदन अन्ततोगत्वा मनुष्य द्वारा परमसुख तथा पूर्ण अस्तित्व की प्राप्ति में बाधाएं डालते हैं।

12. के० सी० सोगानी, 'एथिकल डॉक्ट्रिन्स इन जैनिज्म' (सोलापुर : जैन संस्कृत संघ, 1967), पृ० 54

इन्द्रियातीत ज्ञान 16

ज्ञानेन्द्रियों अथवा मन की सहायता के बिना ज्ञान हो सकता है, इसे आधुनिक मनोवैज्ञानिक एक 'तथ्य' के रूप में स्वीकार करते हैं, और इसके बारे में प्राचीन काल के भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने भी विचार किया है। अपवाद थे तो केवल चार्वाक और मीमांसक। चार्वाक ऐसे किसी ज्ञान को स्वीकार नहीं करते थे जो ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त न हुआ हो; इसलिए वे अतीन्द्रिय ज्ञान में आस्था नहीं रखते थे। मीमांसकों की वेदों पर इतनी अधिक आस्था थी कि वे अन्य किसी स्रोत को अतीत, वर्तमान तथा अनागत का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं समझते थे। अतः वे इन्द्रियातीत ज्ञान को कोई महत्त्व नहीं देते थे, क्योंकि इसकी निष्पत्ति वेदों से नहीं होती।

इन्द्रियातीत ज्ञान सम्बन्धी जैनों के दृष्टिकोण को इस तथ्य के आधार पर समझा जा सकता है कि, जैन दार्शनिकों के मतानुसार इन्द्रिय एवं मन मनुष्य की केवलज्ञान प्राप्त करने की क्षमता में बाधा डालते हैं, और उनके सिद्धान्त के अनुसार आदमी केवलज्ञान के मार्ग की इन बाधाओं को शनैः-शनैः दूर करके ही अन्त में परमसुख प्राप्त कर सकता है। मनुष्य द्वारा सीधे ज्ञान प्राप्त करने के रास्ते में दो मंजिलें स्पष्ट दिखाई देती हैं, जो प्रत्यक्ष ज्ञान की द्योतक हैं। ये हैं: **अवधि** यानी अतीन्द्रिय दृष्टि और **मनःपर्यय**। इनसे हमें मानव-आत्मा की चरम क्षमता के बारे में जानकारी मिलती है। अतः इनके बारे में हम विस्तार से विचार करेंगे।

अवधिज्ञान मनुष्य की वह क्षमता है जिसमें वह, इन्द्रिय अथवा मन की सहायता के बिना, आकार तथा रूप वाली वस्तुओं को ग्रहण करता है। निराकार वस्तुएं, जैसे कि आत्माएं, धर्म, अधर्म, दिक् और काल, अवधिज्ञान की क्षमता के परे की होती हैं। अतः अवधिज्ञान में केवल उन्हीं वस्तुओं को ग्रहण किया जा सकता है जिनके आकार, रंग तथा आयाम होते हैं।[1]

विभिन्न व्यक्तियों में अवधिज्ञान की क्षमता न्यूनाधिक होती है। न्यूनाधिक क्षमता का कारण यह है कि मनुष्य की प्रत्यक्ष ज्ञान की क्षमता में बाधक कर्म-

1. 'तत्त्वार्थ-सूत्र', 1.28

बन्धन को सभी व्यक्तियों ने एकसाथ नहीं तोड़ा है। अतः कर्मों द्वारा व्याप्त सीमाओं को हटाने के प्रयत्न में विभिन्न व्यक्ति विभिन्न स्तरों तक पहुंचे होते हैं; इसलिए उनकी अवधिज्ञान की सीमाएं भी विभिन्न स्तरों की होती हैं। मनुष्य की अवधिज्ञान की न्यूनतम क्षमता में वह ऐसी वस्तुओं को ग्रहण कर सकता है जो लघुतम स्थान तथा सूक्ष्मतम काल बिन्दु में व्याप्त होती हैं। गुणात्मक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ अवधिज्ञान वह है जिसमें अनन्त दिक्-बिन्दुओं में तथा अतीत एवं अनागत के अनगिनत कालचक्रों में व्याप्त वस्तुओं का बोध होता है। विशेष बात यह है कि काल-बोध की क्षमता बढ़ने पर दिक्-बोध की (और इसके साथ अधिक संख्या में द्रव्याणुओं और अधिक संख्या में स्व रूपों को पहचानने की क्षमता भी) बढ़ जाती है। परन्तु दिक्-बोध की क्षमता बढ़ने पर काल-बोध की क्षमता नहीं बढ़ती।[2]

तातिया के अनुसार इस विवेचन का निष्कर्ष है : "दिक्-बिन्दु की तुलना में काल-बिन्दु का विस्तार अधिक होता है, इसलिए यह समझा गया कि एक काल-बिन्दु की अपेक्षा एक दिक्-बिन्दु तक पहुंचना आसान है। अतः यह माना गया है कि काल-वेधन के साथ-साथ दिक्-व्याप्ति भी होती है। परन्तु दिक्-व्याप्ति के साथ काल-वेधन भी होता है, यह सत्य नहीं है। क्योंकि प्रत्येक दिक्-बिन्दु में अनन्त परमाणु होते हैं और प्रत्येक परमाणु के अनन्त स्वरूप होते हैं, इसलिए यह माना जाता है कि दिक्-भेदन का विस्तार होने से ग्रहण की जानेवाली वस्तुओं तथा उनके स्वरूपों की संख्या भी बढ़ जाती है, परन्तु अधिक संख्या में वस्तुओं का और उनके स्वरूपों का बोध हो तो यह जरूरी नहीं है कि काल-भेदन तथा दिक्-व्याप्ति में भी वृद्धि हो। अधिक वस्तुओं का और स्वरूपों का बोध अन्तर्ज्ञान के कारण भी हो सकता है, और इसलिए भी दिक् अथवा काल का विस्तार आवश्यक नहीं है।"[3]

लेकिन सर्वोत्तम अवधिज्ञान में भी सभी स्वरूप ज्ञात नहीं होते, यद्यपि ज्ञात स्वरूपों की संख्या अनन्त है।[4] यह भी मान्यता है कि, न केवल मनुष्य, बल्कि सभी जीवित वस्तुओं में अवधिज्ञान की (न्यूनाधिक) क्षमता होती है।

अवधिज्ञान के तीन प्रकार बताये गये हैं : **देशावधि, परमावधि** और **सर्वावधि**। देशावधि का विस्तार काल तथा दिक् की परिस्थितियों तक सीमित रहता है, और शेष दो का इस प्रकार सीमित नहीं रहता। सर्वावधि ऐसा ज्ञान है जिससे विश्व की सभी भौतिक वस्तुओं के विषय-रहित रूपों को ग्रहण किया जा सकता है। देशावधि के दो भेद हैं : **भवप्रत्यय** और **गुणप्रत्यय**। भवप्रत्यय

2. देखिये, 'आवश्यकनिर्युक्ति', 36
3. देखिये, 'स्टडीज इन जैनिज्म', पृ० 64
4. देखिये, 'विशेषावश्यक-भाष्य', 685, 'नन्दीसूत्र', 16

यानी जन्मजात ज्ञान देवों तथा नारकीय जीवों में होता है। गुणप्रत्यय यानी अर्जित ज्ञान उन बाधाओं को दूर करने से या नष्ट करने से प्राप्त होता है जो अवधिज्ञान के मार्ग में उपस्थित होती हैं।[5] गुणप्रत्यय अवधि वे सभी मनुष्य प्राप्त कर सकते हैं जिनको बुद्धि है। इसके छह भेद बताये गये हैं : (1) अनुगामी अवधिज्ञान जहां ज्ञाता जाता है, वहीं उसके साथ जाता है; (2) अननुगामी अवधिज्ञान ज्ञाता के स्थान-विशेष से पृथक् होने पर छूट जाता है, (3) वर्द्धमान अवधिज्ञान एक बार उत्पन्न होने पर समय के साथ बढ़ता जाता है, (4) हीयमान अवधिज्ञान समय के साथ घटता जाता है, (5) अवस्थित ज्ञान न बढ़ता है, न घटता है; और (6) अनवस्थित अवधिज्ञान कभी बढ़ता है तो कभी घटता है।[6]

मनःपर्यय ज्ञान से दूसरों के मन में चिन्तित पदार्थों का बोध होता है।[7] जैनों की इस धारणा से कि मन सूक्ष्म द्रव्य से बना है, हमें मनःपर्यय के सिद्धान्त के बारे में जानकारी मिलती है। मनद्रव्य मन के विभिन्न व्यापारों में प्रकट होता है। ये व्यापार मन में अनुभव किये गये विचार के विभिन्न स्तरों के परावर्तनों के अलावा और कुछ नहीं हैं। अतः जिस व्यक्ति को मनःपर्यय ज्ञान होता है वह, इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना, दूसरों के मानसिक व्यापारों को सीधे ग्रहण करने में समर्थ होता है।[8] जबकि अवधिज्ञान सभी जीवों को हो सकता है, मनःपर्यय ज्ञान केवल मनुष्यों तक सीमित रहता है। कठोर आचरण तथा चारित्र्य-निर्माण की दुष्कर प्रक्रिया की निर्धारित प्रणाली से गुजरने के बाद ही मनःपर्यय ज्ञान की उपलब्धि होती है। नन्दीसूत्र में वे प्रतिबन्ध गिनाये गये हैं जो मनुष्य में मनःपर्यय ज्ञान के उदय के लिए आवश्यक हैं :[9]

1. कर्मभूमि में मनुष्यों के ज्ञानेन्द्रियों का पूर्ण विकास हुआ होना चाहिए और उनका व्यक्तित्व भी पूर्ण विकसित होना चाहिए, यानी वे पर्याप्त होने चाहिए; 2. मनुष्यो में सम्यक् दृष्टि होनी चाहिए और वे सभी विषयभोगों से मुक्त होने चाहिए, 3. वे संयमी होने चाहिए और उनमें असाधारण सामर्थ्य होना चाहिए।

मनःपर्यय से सम्बन्धित एक बात को छोड़कर सभी मूल सिद्धान्तों के बारे में जैन दार्शनिक एकमत हैं। उमास्वामि का मत है कि मनःपर्यय में दूसरों के मन में स्थित पदार्थों का सीधे बोध होता है। मन में घटित परिवर्तन की प्रक्रिया

5. देखिये, एच० एस० भट्टाचार्य, पूर्वो० पृ० 307-08
6. 'नन्दीसूत्र', 9-15; 'तत्त्वार्थसूत्र', 1.23 पर भाष्य
7. 'आवश्यकनिर्युक्ति', 76
8. 'विशेषावश्यक-भाष्य', 669, 814
9. 'नन्दीसूत्र', 39 व 40

पदार्थों के सीधे अन्तर्ज्ञान में बाधक नहीं होती। जिनभद्र का मत है कि मन के पर्यायों का सीधे अन्तर्ज्ञान होता है, किन्तु मन के पदार्थों का ज्ञान अप्रत्यक्ष रूप से होता है। इसका कारण वे यह बताते हैं कि, मन की 'अन्तर्वस्तुओं' में भौतिक तथा अभौतिक दोनों ही प्रकार की वस्तुओं का समावेश होता है। चूंकि, मन के बदलते पर्यायों के माध्यम के बिना दूसरे के विचारों का अन्तर्ज्ञान होता है, यह मानना एक अयुक्त बात है, इसलिए यह मानना अधिक न्यायसंगत होगा कि भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं का अन्तर्ज्ञान केवल अप्रत्यक्ष रूप से होता है। प्राचीन जैन परम्परा संभवतः यही थी कि मन के पर्यायों का बोध सीधे होता है। संभवतः मन:पर्यय को शाब्दिक अर्थ में ही ग्रहण किया जाता था।

मन:पर्यय के दो भेद माने गये हैं : **ऋजुमति** और **विपुलमति**[10]। ऋजुमति मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के आरंभिक स्तर की द्योतक है और इसलिए यह कम शुद्ध होती है। विपुलमति केवलज्ञान के उदय होने तक टिकी रहती है। ऋजुमति के बारे में कहा जाता है कि इससे ऐसे व्यक्तियों के विचार जाने जा सकते हैं जिनकी दूरी होती है : चार से आठ क्रोश से लेकर चार से आठ योजन तक। इसी प्रकार विपुलमति की सीमा है : चार से आठ योजन से लेकर दो अर्धद्वीपों तक। ऋजुमति का काल-विस्तार एक जीवनकाल से लेकर अतीत के आठ जन्मों तथा अनागत के आठ जन्मों तक होता है। विपुलमति का काल-विस्तार आठ जन्मों से लेकर अनन्त जन्मान्तरों तक होता है।

अवधिज्ञान तथा मन:पर्यय के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि दोनों का सम्बन्ध भौतिक वस्तुओं से है। फिर भी दोनों में कुछ फरक हैं। इन्हें नीचे की तालिका में दिया जा रहा है :

	अवधिज्ञान	मन:पर्यय
शुद्धता :	भौतिक वस्तु तथा मन का भी ज्ञान संभव है, परन्तु यह उतना स्पष्ट नहीं होता जितना कि मन:पर्यय में होता है।	अवधि की अपेक्षा यह ज्ञान अधिक सुस्पष्ट होता हैं। दूसरे मन भी अधिक स्पष्टता से जाने जाते हैं।
विस्तार :	अनन्त विस्तार संभव है—दिक् के सूक्ष्मतम अंश से लेकर इसकी चरम सीमा तक।	इसका विस्तार मानव-जीवन के व्यापारों की सीमा तक ही रहता है।

10. पहले की अपेक्षा दूसरे को अधिक विशुद्ध (विशुद्धतर) माना जाता है। ऋजुमति एक बार होकर छूट भी सकता है (प्रतिपतति), परन्तु विपुलमति एक बार होकर फिर कभी छूटता नहीं (न प्रतिपतति)। 'तत्त्वार्थसूत्र', I. 24 व 25, देखिये, 'स्थानांग-सूत्र' भी, 72।

विषय	: सभी जीवों के लिए और उनके अस्तित्व के सभी स्तरों के लिए संभव है।	केवल मनुष्य के लिए और वह भी अध्यात्म की ओर कुछ प्रगति करने के बाद संभव है।
पदार्थ	: भौतिक पदार्थों तक सीमित। सभी अनन्त स्वरूपों का बोध नहीं होता।	तुलना में मन:पर्यय का विस्तार, सूक्ष्मतम अंशों तक भी होता है।

17

आत्मन्

जैनों की आत्मा सम्बन्धी धारणा को पहचान एवं परिवर्तन रूप में पदार्थ की धारणा से आसानी से समझा जा सकता है। मनुष्य के विभिन्न मानसिक अनुभव एक ऐसी वस्तु की ओर निर्देश करते हैं जो प्रयोग है, स्थिर सत्ता है जो बदलते रूपों को अर्थ तथा महत्त्व प्रदान करती है। यही जीवात्मा या आत्मन् है। जैनों की आत्मा सम्बन्धी धारणा में और बौद्धों की धारणा में स्पष्ट अन्तर है। बदलते रूपों के तथ्य के आधार पर बौद्ध अपने इस सिद्धान्त को सिद्ध करते हैं कि 'आत्मन्' अनुभवों के एक पिटारे के अलावा और कुछ नहीं है। किन्तु इसी तथ्य के आधार पर जैन अपने इस मत को सिद्ध करते हैं कि, ऐसी कोई स्थिर सत्ता अवश्य होनी चाहिए जिसके ही कारण बदलते रूपों को हम बदलते हुए देखते हैं।

आत्मन् की प्रमुख विशेषता चेतना है। चेतना ही वह विशेषता है जो जीवित को निर्जीव से अलग करती है; और जैनों को, सिद्धान्त रूप से, यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है कि "गहन निद्रा की अवस्था भी चेतना-रहित नहीं होती, क्योंकि यदि हम यह नहीं स्वीकार करते तो शांत एवं गहरी नींद के उस सुखद अनुभव को असंभव माना जायगा जिसे हम जागने पर स्मरण करते हैं।"[1]

चेतनता का सम्बन्ध आत्मन् के विभिन्न रूपों और उनके अपने-अपने कार्यों से है। इसीलिए हमें जीवात्मा के लिए अनेक नाम देखने को मिलते हैं : "**प्रमातृ, स्वान्य निर्भासिन्, कर्त्ता, भोक्ता, विवृत्तिमान्, स्वसंवेदन-संसिद्ध**; और वह जिसकी प्रकृति पृथ्वी तथा अन्य तत्त्वों से भिन्न है।"[2] चेतनता के तीन रूप—जानना, अनुभव करना और भोगना—जो जीवात्मा के उपर्युक्त विवेचन से जाहिर हैं, एक अन्य जैन ग्रन्थ में भी वर्णित हैं।[3] जीवात्मा का अद्भुत वर्णन भी देखने को मिलता है। "जीवात्मा प्रभु है, कर्त्ता है, भोक्ता है, देहमात्र है, फिर भी अकायिक है, और कर्म से सम्बन्धित भी पाया जाता है। कुंभकार घट

1. देखिये, एम. एल. मेहता, 'जैन साइकोलॉजी', पृ० 31
2. 'न्यायावतार', 31
3. 'पंचास्तिकायसार', 38

का निर्माता होता है और उसका आनंद भी लूटता है । उसी प्रकार, व्यावहारिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि लौकिक जीवात्मा वस्तुओं का कर्त्ता है, जैसे भवन का निर्माण करना और वस्तुओं को भोगना।"[4] इस संदर्भ में जानना दिलचस्प होगा कि विलियम जेम्स प्रयोगसिद्ध जीवात्मा और शुद्ध जीवात्मा में भेद करते हैं। उनके मतानुसार प्रयोगसिद्ध जीवात्मा "चेतनता, मनोभावों तथा सद्भावों के समूह का नाम है। परन्तु शुद्ध जीवात्मा को प्रयोगसिद्ध जीवात्मा से काफी भिन्न माना गया है। शुद्ध जीवात्मा "सोचती है, विचारक है। यह स्थायी है और दार्शनिक इसे ही जीवात्मा या परम आत्मा कहते हैं।"[5]

जैन दार्शनिकों को इस बात का अंदाजा था कि उनके इस मत पर आपत्ति उठायी जायगी कि, सजीव वस्तु में चेतनता एक विशिष्ट चीज है, यानी सजीव सत्ता का ऐसा वर्णन अस्तित्व, उत्पत्ति, विनाश तथा स्थायित्व-जैसी विशेषताओं के साथ मेल नही खाता। इस आपत्ति का उत्तर देने के लिए वे परिभाषा और वर्णन में भेद करते हैं। परिभाषा में वस्तु में पाये जानेवाले भेदों की ओर निर्देश किया जाता है, जब कि वर्णन में संपूर्ण वस्तु का विचार होता है और इसके घटकों के बारे में सूक्ष्म विचार किया जाता है...।[6]

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार, जीवित सत्ता की खास विशेषता यह है कि, यह ज्ञानशक्ति (**उपयोग**)[7] के लिए एक आधार है और यह ज्ञानशक्ति चेतनता की सीमित मात्र में केवल अभिव्यक्ति है। जैन दर्शन में जो दो प्रकार के ज्ञान-भेद —निराकार उपयोग और साकार उपयोग—माने गये हैं वे चेतनता के मात्र अपूर्ण प्रक्षेपण हैं। केवल पूर्ण निराकार उपयोग और पूर्ण साकार उपयोग में ही चेतनता की पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति होती है। जीवित सत्ता की क्षमता केवल पूर्ण निराकार उपयोग और पूर्ण साकार उपयोग तक ही सीमित नहीं होती, इसका विस्तार पूर्ण परमसुख तथा असीम शक्ति तक भी होता है। चेतनता की शुद्धता को चार प्रकार के कर्मों से क्षति पहुंचती है—तर्क-अवरोधक कर्म, बुद्धि-अवरोधक कर्म, भ्रांतिजनक कर्म और और शक्ति-अवरोधक कर्म। चूंकि अन्य भारतीय दर्शनों (चार्वाक दर्शन को छोड़कर) में भी यह स्वीकार किया गया है कि मानव जीवन की विशेषता पूर्णता की ओर आगे बढ़ते जाने में है, तो जैनों का यह मत हमारी समझ में आता है कि जीवित सत्ता में आत्मन् का प्रकटीकरण केवल आंसिक रूप से होता है।

यद्यपि 'आत्मन्' या 'जीवात्मा' को तात्त्विक अमूर्तता माना जा सकता है

4. वही, 27 समयसार, 124
5. 'प्रिन्सिपल्स ऑफ साइकोलॉजी', प्रथम खण्ड, पृ० 292
6. देखिये, 'तत्त्वार्थ-सूत्र', V, 29
7. वही, II. 8

और इसकी खोजबीन तत्त्ववेत्ता द्वारा होनी चाहिए, फिर भी मनोवैज्ञानिक का भी यह कर्तव्य है कि वह इसकी प्रकृति का अध्ययन करे और इसके अस्तित्व को सिद्ध करे, क्योंकि चेतनता मनोविज्ञान की केन्द्रीय धारणा है और इसका ज्ञान सीधे जीवात्मा के अस्तित्व से सम्बन्धित होता है।[8] प्राचीन भारत के दार्शनिकों की मानव व्यक्तित्व के विविध आयामों के बारे में जो जानकारी थी उससे भी उन्हें पता चला कि मनुष्य के मनोभावों का ही विश्लेषण करना पर्याप्त नहीं है। अतः यह माना गया था कि तात्त्विक और मानसिक विश्लेषण इस प्रकार नहीं होने चाहिए कि मानो वे एक-दूसरे से पूर्णतः असम्बन्धित हों। भारतीय चिन्तन में मनुष्य के प्रति यह जो सामान्य दृष्टिकोण दिखाई देता है, उसमें जैन दार्शनिक अपवाद नहीं थे।

विभिन्न मनो-विषय, जो चेतनता के व्यंजक होते हैं, आधुनिक मनोविज्ञान में 'सक्रिय भाव' माने गये हैं और एक ठोस शक्ति---आत्मन् या जीवात्मा—के अस्तित्व के द्योतक हैं। आत्मन् द्रव्य-रहित होता है, क्योंकि इसकी क्रियाएं स्वनिर्धारित और स्वेच्छानुरूप होती हैं। यदि यह द्रव्य से बना होता तो इसकी क्रियाएं बाहर से निर्धारित हुई होतीं और यह अभौतिक चिंतन-क्रियाओं के लिए समर्थ न होता। इसलिए यह माना गया है कि आत्मन् या जीवात्मा प्रकृति में वास्तविक और अभौतिक दोनों ही है। यहां यह जानना उपयोगी होगा कि अमरीकी दार्शनिक विलियम जेम्स के मतानुसार अभौतिक आत्मन् की धारणा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वह लिखते हैं : "...जीवात्मा के बारे में यह मान्यता कि यह किसी रहस्यमय तरीके से मस्तिष्क के भावों से प्रभावित होती है और अपने चेतन अनुराग से उनका पालन करती है, मुझे अब तक के तर्कों में सबसे कम कमजोर प्रतीत होती है।"[9]

जैन ग्रन्थ **विशेषावश्यक भाष्य** में जीवात्मा के अस्तित्व के बारे में विशद विवेचन किया गया है। इसमें इन्द्रभूति उस विरोधी मत का प्रवक्ता माना गया है जो जीवात्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता और महावीर उठायी गयी आपत्तियों का उत्तर देते हैं। जैसा कि अधिकांश भारतीय दर्शनों के ग्रन्थों में देखने को मिलता है, इस जैन ग्रन्थ में भी विरोधी पक्ष के मत को पहले प्रस्तुत किया गया है और फिर स्वपक्ष उन सभी तर्कों का व्यवस्थित रूप से खण्डन करता

8. जेम्स वार्ड अपने ग्रन्थ 'साइकोलाजिकल प्रिंसिपल', पृ० 370 में 'आन्तरिक ज्ञान' या 'स्वचेतना' के बारे में लिखते हैं। "सभी वास्तविक अनुभूतियों की, चाहे वे कितनी भी सरल क्यों न हों, आवश्यक शर्त है विषय तथा कहानी द्वित्व के ज्ञान का अंतिम क्रम। अतः अनुभव के क्रम में यह प्रथम है। अनुभव के विषय को ही हम शुद्ध आत्मन् कहते हैं।

9. वही, प्रथम खण्ड, पृ० 181

है। स्वयं भगवान महावीर ही विरोधी मत को प्रस्तुत करते हैं : "जीवात्मा का अस्तित्व संदिग्ध है, क्योंकि किसी भी ज्ञानेन्द्रिय से प्रत्यक्षतः इसका बोध नहीं होता। जीवात्मा की स्थिति परमाणुओं की तरह नहीं है, क्योंकि परमाणु यद्यपि अदृश्य होते हैं, फिर भी समूह रूप में उन्हें देखा जा सकता है। अनुमान से भी जीवात्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि बिना किसी बोध के अनुमान भी संभव नहीं है। धर्मग्रन्थों के आधार पर भी जीवात्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि धर्मग्रन्थों का ज्ञान अनुमिति से भिन्न नहीं होता। यदि यह मान भी लिया जाय कि धर्मग्रन्थों से हमें जीवात्मा के अस्तित्व को समझने में सहायता मिलती है, तो धर्मग्रन्थों में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जिससे पता चले कि किसी ने जीवात्मा को प्रत्यक्ष रूप से देखा है। धर्मग्रन्थों के बारे में एक और दिक्कत यह है कि धर्मग्रन्थों में ही परस्पर विरोधी बातें देखने को मिलती हैं। सादृश्य के आधार पर भी जीवात्मा के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि विश्व में ऐसी एक भी सत्ता नहीं है जो लेशमात्र भी जीवात्मा के सदृश हो। इस प्रकार, किसी भी प्रमाण से जीवात्मा की सत्ता सिद्ध नहीं होती; इसलिए निष्कर्ष निकलता है कि जीवात्मा का कोई अस्तित्व नहीं है।"[10]

महावीर अपने मत की रक्षा इन शब्दों में करते हैं : "हे इन्द्रभूति! जीवात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान तुम्हें भी हो सकता है। इसके बारे में संदेह आदि से युक्त तुम्हारा ज्ञान ही जीवात्मा है। जो स्वयं तुम्हारे अनुभव से सिद्ध होता है, उसको सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। सुख, दुःख आदि के अस्तित्व के लिए किसी प्रमाण की जरूरत नहीं होती।" और "अहंप्रत्यय—जैसे, 'मैंने किया,' 'मैं करता हूं', तथा 'मैं करूंगा' में 'मैं' की अनुभूति—से जीवात्मा का प्रत्यक्ष बोध हो सकता है।"[11] महावीर का यह कहना कि जीवात्मा के अस्तित्व के लिए किसी प्रमाण की जरूरत नहीं है, एक मूलभूत प्रश्न का उत्तर देने से कतराना नहीं है, क्योंकि वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि संशय के होने का अर्थ ही है कि कोई संशयकर्त्ता भी है। वे पूछते हैं : "जिसके बारे में संदेह है उस वस्तु का यदि सचमुच ही अस्तित्व नहीं है तो किसे संदेह हो सकता है कि मेरा अस्तित्व है या मेरा अस्तित्व नहीं है? हे गौतम (इन्द्रभूति)! जब तुम्हें स्वयं अपनी जीवात्मा के बारे में संदेह है, तो फिर कौन-सी चीज संदेह-रहित हो सकती है?"[12]

महावीर कहते हैं कि किसी वस्तु के अस्तित्व की स्वयं-सिद्धता उसके गुणों की स्वयं-सिद्धता से स्पष्ट होती है। उनका मत है : "जीवात्मा, जो कि इसके

10. 'विशेषावश्यक भाष्य', 1550-53
11. वही, 1554-56
12. वही, 1557

गुणों का आधार है, स्वयं-सिद्ध है, क्योंकि इसके गुण भी स्वयं-सिद्ध हैं, जैसे कि घट की स्थिति में है। गुणों की सिद्धि से आधार की भी सिद्धि होती है।"[13] जीवात्मा जिसके गुण संदेह के परे हैं न केवल गुणों के अस्तित्व अपितु आधार के अस्तित्व की ओर भी निर्देश करते हैं। पदार्थ और इसके गुणों के बीच अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध होता है, इसलिए दूसरे के बारे में सोचे बिना हम एक के बारे मे विचार नहीं कर सकते। इसी प्रकार, दो सम्बन्धित वस्तुओं में से एक का अस्तित्व सिद्ध होने से दूसरे का भी सिद्ध हो जाता है।

कभी-कभी हम देखते हैं कि शरीर के मौजूद होने पर भी, जैसे कि गहरी नीद, मृत्यु आदि में, तो भी संवेदन, बोध, स्मृति आदि जैसे गुण अनुपस्थित रहते हैं।[14] इससे जाहिर होना है कि शरीर का मानसिक क्रियाओं के साथ आवश्यक सम्बन्ध नही है, शरीर के अतिरिक्त भी कोई सत्ता है और वही जीवात्मा है।

अन्त में, शरीर द्रव्य (पुद्गल) से बना होने के कारण यह स्वयं चेतना का जनक नहीं हो सकता। यदि चेतना शरीर के विविध अंगों का गुण नहीं है, तो शरीर में पायी जानेवाली चेतना अवश्य ही आत्मन् अथवा जीवात्मा का गुण होनी चाहिए, और इस आत्मन् का निवास शरीर में होता है। शरीर में आत्मन् के निवास से चेतना का उद्भव होता है और आत्मन् के न रहने पर चेतना नष्ट हो जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि चेतना आत्मन् अथवा जीवात्मा की प्रमुख विशेषता है।

इस प्रकार, हम जीवात्मा के जैन सिद्धांत को चेतना के रूप में समझ सकते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि जीवात्मा के विवेचन से जैनों के चेतना सम्बन्धी मत को भी समझा जा सकता है।

13. वही, 1558
14. देखिये, एम० एल० मेहता, 'जैन साइकोलॉजी', पृ० 38

पुनर्जन्म 18

हिन्दू धर्म की तरह जैन धर्म में भी जीवात्मा के अमरत्व की धारणा तथा उसी पर आधारित पुनर्जन्म में विश्वास कर्म-सिद्धान्त का केन्द्रबिन्दु है। स्थानांग सूत्र में जो छह विकल्प सुझाये गये हैं उनसे जीवात्मा के अमरत्व का स्पष्ट निर्देश मिलता है। जीवात्मा के दूसरे शरीर में प्रवेश करने के या अन्य जन्म ग्रहण करने के छह मार्ग हो सकते हैं: (1) वर्तमान जीवन में किये गये दुष्कर्मों के लिए दूसरे जन्म की जरूरत होती है और यह अगला जन्म हो सकता है या उसके बाद का जन्म, (2) पिछले या उससे भी पहले के जन्मों में किये गये दुष्कर्म वर्तमान जन्म में फलित हो सकते हैं, (3) इसी प्रकार पूर्वजन्म में किये गये दुष्कर्म वर्तमान जीवन में अब तक फलित नहीं हुए हैं और शेष वर्तमान जीवन में फलित भी नहीं हो सकेंगे, इसलिए एक और जन्म की जरूरत होगी। अर्थात्, पूर्वजन्म में किये गये दुष्कर्मों के फल आगे के जन्म में या उसके भी आगे के जन्म में भुगतने पड़ेंगे। इसी प्रकार सत्कर्मों के बारे में; (4) इस जन्म में किये गये सत्कर्मों के फल अगले जन्म में या उसके आगे के किसी जन्म में मिलेंगे; (5) पूर्वजन्म के सत्कर्मों के फल वर्तमान जन्म में मिल सकते हैं; और (6) पिछले जन्म के या पहले के किसी जन्म के सत्कार्यों के फल वर्तमान जन्म में अब तक मिले नहीं हो सकते और शेष जीवन में भी मिलने की संभावना नहीं है, तो उनके लिए अन्य जन्म की जरूरत होगी। फल यद्यपि अगले जन्म में भी मिल सकते हैं, परन्तु दावे के साथ कुछ भी नहीं कहा जा सकता।[1]

यहां यह बताना जरूरी है कि दो अन्य संभावनाओं को भी माना गया है: (1) वर्तमान जीवन के सत्कर्मों का फल इसी जन्म में मिल सकता है, और (2) वर्तमान जीवन के दुष्कर्मों का फल भी इसी जीवन में मिल सकता है। इन संभावनाओं का उल्लेख इस व्यापक संदर्भ में किया गया है कि आदमी को अपने (अच्छे या बुरे) कर्मों का फल भोगना ही होता है।[2]

जीवात्मा के अमरत्व तथा पुनर्जन्म को सिद्ध करने के बाद एक महत्त्व का प्रश्न सामने आता है। पुनर्जन्म का अर्थ क्या सदैव आगे की ओर का विकास है?

1. IV. 2.7
2. वही

यानी, क्या एक बार मनुष्य जन्म का स्तर प्राप्त कर लेने के बाद फिर विकास के दौर में मनुष्य जन्म से नीचे का स्तर प्राप्त होने का कोई खतरा नहीं है ? एक सामान्य व्यक्ति भी इस सवाल का नकारात्मक उत्तर देगा। कहा जायगा कि, जो आदमी बुरा काम करता है उसका उसे दण्ड मिलेगा ही। ऐसा व्यक्ति मानव-जन्म के स्तर में बना रहेगा और संभवत: उसका नीचे की ओर पतन नहीं होगा। परन्तु सामान्य व्यक्ति कहेगा कि, कर्म सिद्धांत के अनुसार, यदि किसी मनुष्य के कार्य मनुष्य जन्म के योग्य नहीं हैं, मनुष्य से निम्न कोटि के हैं, तो उस मनुष्य को मानवीय स्तर से नीचे ढकेल देना चाहिए।

जैनों के मत को स्पष्ट करने के लिए मेहता थियोसोफिस्टों के मत का उल्लेख करते हैं : चेतना के एक बार मानव स्तर पर पहुंच जाने के बाद फिर उसका पतन नहीं होता। दुष्कर्म यदि उद्धार की सीमा को लांघ जाता है, तो उस सत्ता का ही पूर्ण विनाश हो जा सकता है और मनुष्य महामानव हो सकता है, परन्तु वह मनुष्य से कम नहीं होगा। मेहता कहते हैं कि यह मत विकासवाद से प्रभावित है और जैन परम्परा में थियोसोफिस्टों के ऐसे मत को कभी भी स्वीकार नहीं किया गया है। वह लिखते हैं : "जैन मत है कि मृत्यु के बाद जीवात्मा पशुओं और पेड़-पौधों में भी जा सकती है। यह स्वर्ग में भी जा सकती है और वहां कुछ समय के लिए रह सकती है। इसलिए जैन मत है कि जीवात्माएं पीछे की ओर भी जा सकती हैं। जैन मतानुसार जीवात्माओं की वृद्धि एवं विकास चेतना के निम्न स्तर से उच्च स्तर में नहीं होता।"[3]

जीवात्माओं के विपरीतगमन के बारे में जो जैन मत हैं, वह हिन्दू मत से बड़ा मेल खाता है। कई उपनिषदों में विपरीतगमन की संभावना के उल्लेख मिलते हैं :

"जो इन दो पथों को नहीं जानते वे कीट-पतंग, मक्खी, मच्छर ··बनते हैं।"[4]

"जो यहां अच्छा कर्म करते हैं, उन्हें अच्छा जन्म मिलेगा। जो यहां बुरा कर्म करेंगे उन्हें बुरा जन्म मिलेगा, जैसे, कुत्ते का, सूअर का ··।"[5]

"कुछ व्यक्तियों को अपने कर्मों के अनुसार और मन की प्रवृत्ति के अनुसार पुनर्जन्म मिलता है। कुछ व्यक्तियों का पतन होकर वे पेड़ बन जाते हैं।"[6]

"वह अपने कर्मों के अनुसार इस धरती पर किसी-न-किसी जन्म में कीट,

3. 'जैन साइकोलोजी', पृ० 176-77
4. 'बृहदारण्यक उपनिषद्', VI. 2.16
5. 'छान्दोग्य उपनिषद्', V. 10.7
6. 'कठोपनिषद्', II. 2.7

टिड्डा, मछली, पक्षी, शेर, सूअर, सर्प, बाघ, तथा अन्य कोई प्राणी बना।"[7]

इस संदर्भ में यह ध्यान में रखना जरूरी है कि जीव या चेतन सत्ता या जीवात्मा की चार अवस्थाएं हैं : नरक की अवस्था, पशु की अवस्था, मनुष्य की अवस्था और स्वर्ग की अवस्था। जीव शब्द विश्व में व्याप्त चेतन सत्ता का द्योतक है और यह केवल मनुष्य में ही नहीं पाया जाता। इससे हमें पुनर्जन्म के जैन सिद्धांत के बारे में जानकारी मिलती है, क्योंकि यह इस तथ्य की ओर निर्देश करती है कि,चेतन सत्ता जिन अवस्थाओं में पायी जाती है उनमें से मनुष्य अवस्था केवल एक है; इसलिए यह कल्पना करने का हमें कोई अधिकार नहीं है कि एक बार मानवीय अवस्था के प्राप्त हो जाने के बाद अतिमानव और परिपूर्णता का स्तर, जिसमें जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति मिल जाती है, अपने-आप प्राप्त होता है। भगवती सूत्र में जीवात्मा की इन चार अवस्थाओं का उल्लेख है और उन कर्मों की भी जानकारी है जिनके कारण जीवात्मा का इन अवस्थाओं में प्रवेश होता है। जिसके कारण मनुष्य को नारकीय जीवन मिलता है, वह कर्म है। अत्यधिक धन जमा करना, उपद्रवी कार्यों में उलझना, प्राणियों के पंचेन्द्रियों को काटना, मांस खाना, इत्यादि। जिसके कारण पशु, वनस्पति तथा इसी प्रकार का जीवन मिलता है, वह कर्म है दूसरों को धोखा देना, कपट रचना, झूठ बोलना, इत्यादि। जिसके कारण मानव जीवन मिलता है, वह कर्म है सरल स्वभाव, नम्र व्यक्तित्व, दयाभाव, करुणा, इत्यादि। जिसके कारण स्वर्ग का सुख मिलता है, वह कर्म हैं तपस्वी का आचरण, व्रतों का पालन, इत्यादि।[8]

जीवात्मा के विपरीतगमन के जैन सिद्धान्त के बारे में महत्त्व की बात यह है कि इससे उत्तरदायित्व सम्बन्धी नैतिकता के लिए आधार प्राप्त होता है। सामान्य रूप से कर्म सिद्धांत, इसके पुनर्जन्म के उपसिद्धांत सहित सामान्यजनों की दृष्टि में भी, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के लिए नैतिक अधार प्रदान करता है। जैन सिद्धांत में इस मान्यता को स्वीकार किया गया है, परन्तु साथ ही इस बात पर भी विशेष जोर दिया गया है कि, यदि मनुष्य जिम्मेवार प्राणी है, तो वह केवल मानव जीवन में किये जाने वाले उन अच्छे या बुरे कर्मों के लिए ही जिम्मेवार नहीं है जिनका फल उसे उसी या बाद के मानव जीवन में भोगना पड़ता है। सामान्य मानवीय स्तर से ऊपर उठाकर परिपूर्ण मनुष्य बनाने में उसकी उत्तरदायित्व की भावना यदि सचमुच ही महत्त्व की भूमिका अदा करती है, तो जब वह कोई गलत काम करता है, पशुवत् कर्म करता है, तो इस भावना का उपयोग किया जा सकता है। मानवीय स्तर से निम्न कोटि के कर्म करके

7. 'कौषीतकी ब्राह्मण', I. 1.6
8. VIII. 9.41

वह इसके परिणामों से बच नहीं सकता। उसका पतन होता है और उसे मानव से नीचे के स्तर में ढकेल दिया जाता है।

एक और तथ्य जिससे हमें जैन सिद्धान्त को सही तौर से समझने में सहायता मिलती है, यह है कि, जब भी हम मनुष्य तथा चरमगति प्राप्त करने के उसके प्रयासों पर विचार करते हैं, तो हम मुख्यत: चेतनता के बारे में विचार करते हैं। आध्यात्मिक विकास एक अचेतन नहीं, बल्कि चेतन प्रक्रिया है। चूंकि मनुष्य के इस पक्ष के बारे में नीतिशास्त्र में विचार किया जाता है, इसलिए हम अकसर भूल जाते हैं कि सचेतनता केवल मनुष्य प्राणी की ही विशेषता नहीं है, यद्यपि आत्म-चेतनता संभवत: है। जैन परम्परा मनुष्य की आत्म-चेतना पर भले ही विशेष बल देती हो, परन्तु इसकी दृढ़ मान्यता है कि चेतनता में किसी प्रकार की रुकावट नहीं आती, फिर चाहे यह वनस्पति के स्तर से पशु स्तर में पहुंचे या पशु स्तर से मानव या अति-मानव स्तर में पहुंचे। इसी अर्थ में जैन दर्शन में दो प्रमुख सत्ताओं—**जीव** तथा **अजीव** यानी चेतन तथा अचेतन को स्वीकार किया गया है। चूंकि नीतिशास्त्र में मानव की क्षमताओं तथा प्रवृत्तियों के बारे में विचार किया जाता है, इसलिए प्रतीत होता है कि आदमी चाहे कितना भी बुरा क्यों न हो, उसका पतन नहीं हो सकता। परन्तु जैन दार्शनिकों की चेतनता सम्बन्धी मान्यता से प्रभावित होकर हम विश्व में व्याप्त चेतन सत्ता पर विचार करते हैं और इसके विकास की न केवल मानवीय स्तर से बल्कि इसके 'प्रथम अस्तित्व में आने' के समय से खोज करते हैं। चेतनता के बारे में इस प्रकार का समग्र दृष्टिकोण अपनाने से हम देखते हैं कि, मानवीय उत्तरदायित्व पर कम बल देने की बजाय, इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि मनुष्य को अपने विकास के स्तर के योग्य जीवन बिताना चाहिए, उसे देखना चाहिए कि बिना पतन के उसका स्तर बना रहता है और फिर उसे चेतनता के उच्च स्तर की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

जैन दर्शन की समग्र चेतनता सम्बन्धी इस महत्त्वपूर्ण मान्यता के बारे में **उत्तराध्ययन-सूत्र** में एक रोचक उदाहरण मिलता है। उदाहरण इस प्रकार है: तीन व्यापारी अपनी-अपनी पूंजी लेकर किसी दूसरे शहर में व्यापार करने गये। एक व्यापारी को काफी लाभ हुआ। दूसरा व्यापारी अपनी मूल पूंजी लेकर लौटा, उसे न लाभ हुआ न हानि। तीसरा व्यापारी अपनी पूंजी खोकर लौटा।[9] इस उदाहरण में पूंजी मानव जीवन की द्योतक है, लाभ स्वर्गीय सुख का द्योतक है और हानि का अर्थ है पशुयोनि में पतन या नारकीय यातनाएं।

9. VII. 14-15

जो व्यक्ति बिना किसी हानि या लाभ के घर लौटता है वह उस व्यक्ति के समान है जिसका अगला जन्म मनुष्य रूप में ही होता है। "जो मनुष्य अपने सत्कार्यों से धर्मशील गृहस्थ बनता है, वह पुनः मनुष्ययोनि में पैदा होता है, क्योंकि सभी मनुष्यों को अपने कर्मों का फल मिलता है। परन्तु अपनी पूंजी बढ़ानेवाला व्यक्ति बड़े पुण्यकार्य करनेवाले व्यक्ति-जैसा होता है। पुण्यात्मा व्यक्ति बड़े सुख से देवत्व को प्राप्त होता है ··। जो बुरे कार्य करता है और अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता, वह नरक में जाता है। बुद्धिमान व्यक्ति वह है जो पाप और पुण्य को समझता है। पापमार्ग का त्याग करने से बुद्धिमान व्यक्ति पुण्य का लाभ करता है।"[10]

अतः यह स्पष्ट है कि जैन दार्शनिक का पुनर्जन्म सम्बन्धी मत न केवल मानवीय जीवात्मा की अनन्तता पर जोर देता है और इसलिए विकास तथा विपरीतगमन की संभावना को स्वीकार करता है, बल्कि चेतनता के सातत्य तथा उससे भी अधिक मानव की उत्तरदायी प्रकृति की ओर निर्देश करता है। इस अर्थ में पुनर्जन्म का यह सिद्धांत जैन नीतिशास्त्र के लिए भी आधार प्रदान करता है। आगे के एक प्रकरण में जब हम जैन नीतिशास्त्र की कुछ विशेषताओं पर विचार करेंगे, तो यह बात स्पष्ट हो जायगी।

10. वही, VII. 20-21; 28; 30

चतुर्थ भाग : तत्त्वमीमांसा

वास्तविकता और सत्ता 19

'वास्तविकता' तत्त्वमीमांसा की सर्वप्रमुख धारणा है। यह एक अत्यन्त व्यापक शब्द है और इसके अन्तर्गत जीवन के व्यापक दर्शन तथा विश्व के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण का समावेश होता है। इसीलिए जब किसी दर्शन का अध्ययन किया जाता है तो उसका तत्त्वमीमांसीय स्वरूप एक 'विश्व-दृष्टिकोण' का द्योतक माना जाता है, और इसमें आसपास के जीवन के प्रति निर्धारित दृष्टिकोण भी समाहित रहता है।

जैन दर्शन के अनुसार, चेतना तथा द्रव्य के ज्ञान से ही वास्तविकता का समुचित परिचय हो सकता है, क्योंकि इन दोनों का ही अस्तित्व है। इन दोनों में से एक को छोड़ने का अर्थ होगा वास्तविकता का अपूरा परिचय या अधूरा चित्र प्राप्त करना।

जैन दर्शन का वास्तववाद वास्तविकता तथा सत्ता में भेद नहीं करता। इसके अनुसार वास्तविकता सत् है और सत्ता वास्तविक है। वास्तविकता के चेतन तथा अचेतन (जीव तथा अजीव) दोनों ही तत्त्वों का अस्तित्व मानकर इन्हें जो प्रधानता दी गयी वह इस तथ्य की द्योतक है कि व्यक्तिगत आत्मा, द्रव्य, आकाश, काल और विश्व में पाये जाने वाले गति एवं स्थिति के तत्त्व, ये सब वास्तविक हैं।[1] ये सब सत् वास्तविकता कहलाते हैं और इन्हें क्रमशः नाम दिये गये हैं : जीव, पुद्गल, आकाश, काल, धर्म तथा अधर्म।[2] इनमें अन्तिम पांच को अजीव कहा गया है।

1. देखिये, 'भगवती-सूत्र', XXV. 2-4
2. 'भगवती-सूत्र' के एक पूर्व-प्रकरण (XIII, 4 व 481) में यह मत देखने को मिलता है कि विश्व पांच प्रकार के द्रव्यों से बना है। यह मत स्वयं महावीर का माना जाता है। कहते हैं कि अपने एक शिष्य गौतम के प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा : "गौतम, विश्व पांच देशव्याप्त द्रव्यों से बना है। ये हैं—गति तत्त्व, स्थिति तत्त्व, आकाश, आत्मा और द्रव्य।" उसी ग्रन्थ में 'काल' को अलग स्थान दिया गया; इससे पता चलता है कि महावीर के समय भी दो विचार-धाराएं विद्यमान थीं। वास्तविकता के बारे में ये दो प्रकार के उल्लेख इस माने में भी महत्त्व के हैं कि प्रथम पांच को जहां देशव्याप्त माना गया, वहां छठे को अव्याप्त।

यदि हम जीव तथा अजीव को वास्तविकता के दो तत्त्व मानते हैं, तो जैन दर्शन को द्वैतवादी कहा जा सकता है। जैन दर्शन को बहुवादी या अनेकान्तवादी भी कहा जा सकता है, क्योंकि अजीव को फिर पांच प्रवर्गों में विभाजित किया गया है।

जो तत्त्व सत्, वास्तविक तथा दिक् से सम्बन्धित हैं, उन्हें जैन दर्शन में **अस्तिकाय** कहा गया है। ये अस्तिकाय पांच हैं : **जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म** और **आकाश**। इन अस्तिकाय के स्वरूप तथा गुण बदलते रहते हैं। विशेष बात यह है कि इनका अस्तित्व है, और विस्तार भी।[3]

काल को अस्तिकाय नहीं माना जाता, क्योंकि यद्यपि यह दिक् से सम्बद्ध है, फिर भी यह दिक् में अन्तर्निहित नहीं है। इस विशेषता के अलावा काल के अन्य गुण अन्य तत्त्वों-जैसे ही हैं। पंचास्तिकाय तथा काल से जो छह तत्त्व बनते है, उन्हें ही जैन दर्शन में स्वीकार किया गया है। इन छह तत्त्वों को **द्रव्य** नाम दिया गया है। चूंकि इन छहों तत्त्वों का अस्तित्व है, इसके स्वरूप तथा गुण बदलते रहते हैं, इसलिए जैन दर्शन में द्रव्य की जो परिभाषा दी गयी है, वह यह है : "जो तत्त्व अपने विविध गुणों तथा स्वरूपों को प्रकट करते हुए अपने पृथक्त्व को बनाये रखते हैं, और जो सत्ता से भिन्न नहीं हैं, उन्हें द्रव्य कहते हैं।"[4]

ऊपर द्रव्य की जो तीन विशेषताएं बतायी गयी हैं, वे अत्यंत महत्त्व की हैं, क्योंकि वे सभी जैन दर्शन के वास्तववाद की पुष्टि करती हैं। सत् शब्द चेतना से पृथक् एक द्रव्यमय विश्व के अस्तित्व का द्योतक है। द्रव्य तथा अद्रव्य का यह विश्व केवल चेतना से उद्भूत नहीं है। विश्व का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। **सर्वार्थसिद्धि** में कहा गया है कि द्रव्य मूलतः नहीं बदलता।[5] 'उत्पत्ति' तथा 'विनाश' शब्द द्रव्य के केवल बदलते स्वरूप के द्योतक हैं; वस्तुतः द्रव्य की न उत्पत्ति होती है, न विनाश। द्रव्य के अनन्तकालिक अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। उदाहरण के लिए, मिट्टी को जब विविध रूपों में ढाला जाता है, तो इसकी मूल प्रकृति में फरक नहीं पड़ता।

इस प्रकार, सत्ता का 'अन्तर्भाग' या 'स्थायी सत्ता' द्रव्य है, और जैन दार्शनिकों ने इस एकरूप तत्त्व को ध्रुव नाम दिया है। जैनों का प्रमुख तर्क यह है कि किसी वस्तु में होने वाले परिवर्तनों को समझने के प्रयास का अर्थ ही यह है कि परिवर्तनों के बावजूद वह वस्तु स्थायी बनी रहती है। वस्तु में होने वाले

3. 'द्रव्यसंग्रह,' 24
4. पंचास्तिकाय, 8
5. V. 30

परिवर्तनों को उत्पाद तथा व्यय कहा गया है। उमास्वामि के अनुसार, सत् उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य (स्थिरता) से युक्त होता है।[6] पर्याय यानी परिवर्तन के विविध संदर्भों में प्रयुक्त होनेवाले शब्द हैं : रूपान्तर, उद्भव, अन्तर, सूक्ष्मता, अनेकता, विविधता, बहुलता, इत्यादि। ये शब्द न केवल जन्म (उत्पाद) के अपितु मृत्यु (व्यय) के भी द्योतक हैं। इसी प्रकार 'ध्रुवत्व' के अर्थ में सार-तत्त्व, आधार, सत्ता, एकरूपता, अभेद, सातत्य, एकता, एकत्व, नित्यता, स्थिरत्व, स्थायित्व आदि शब्दों का प्रयोग होता है।[7]

जैन परम्परा में वास्तविकता के बारे में जो विविध उल्लेख आये हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि उत्पाद तथा व्यय वास्तविकता के गतिशील स्वरूप के द्योतक हैं और ध्रुव से स्थिर स्वरूप का बोध होता है। तार्किक दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि इन तीनों स्वरूपों में से किसी एक के भी बिना वास्तविकता की कल्पना सैद्धान्तिक अमूर्तता की कोटि की होगी, जिसमें दार्शनिक कभी-कभी उलझ जाते हैं। जो कुछ भी वास्तविक है, उसकी उत्पाद, व्यय तथा ध्रुव की विशेषताओं के बिना कल्पना ही नहीं की जा सकती।

सत्ता सम्बन्धी जैन विचार का विश्लेषण कुछ भिन्न प्रकार से भी किया जा सकता है। विविध रूपों के अस्तित्व की मान्यता ही उस वस्तु के अस्तित्व की, विविध गुणों की परिकल्पनावाली वस्तु की, सूचक है। जैन मतानुसार, गुणों का सार्थक विवेचन करने का अर्थ ही है अन्तर्भूत या आधारभूत वस्तु का अस्तित्व स्वीकार करना। बदलते रूपों का विचार करते समय भी हम द्रव्य की सत्ता मान लेते हैं, क्योंकि रूपान्तरण एवं परिवर्तन किसी वस्तु में होते हैं, और वह वस्तु स्थायी बनी रहती है, इसलिए वह बदलते रूपों तथा गुणों की तरह ही वास्तविक होती है।

जैन सत्ता-मीमांसा ऊपर विवेचित एकरूपता तथा परिवर्तन के सिद्धान्त पर आधारित है। जब हम जैन मान्यता की अन्य भारतीय दर्शनों के विचारों के साथ तुलना करते हैं, तो यह अधिक सुस्पष्ट हो जाती है। ये अन्य विचार जैन मत की आलोचना करते हैं। जैन मान्यता के विभेदात्मक स्वरूप को भली-भांति न समझने के कारण वास्तविकता एवं सत्ता के रूप-परिवर्तन वाले सिद्धान्त पर आत्म-विरोधी होने का जो आरोप है, वह स्वाभाविक है। वास्तविकता सम्बन्धी विभिन्न मतों की चर्चा हम अगले प्रकरण में करेंगे। यहां हम इसी एक बात की ओर निर्देश करेंगे कि याकोबी जैसे जैन दर्शन के गंभीर

6. 'तत्त्वार्थसूत्र', V. 29
7. देखिये वाई० जे० पद्मराजिह, 'जैन थ्योरीज ऑफ रियलिटी एण्ड नॉलेज' (बम्बई : जैन साहित्य विकास मण्डल, 1963), पृ० 127

अध्येता ने भी कहा है कि दार्शनिक चिंतन के इस ढेर में कोई एक केन्द्रीय सिद्धान्त नहीं है। सन् 1908 में धर्मों के इतिहास के तीसरे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में अपने भाषण का आरंभ करते हुए उन्होंने कहा था : "जो कोई जैन दर्शन के अध्ययन में जुट जायगा, उसे लगेगा कि यह बिना किसी केन्द्रीय मान्यता के दार्शनिक मतों का एक ढेर है, और उन्हें इस बात से अचरज होगा कि जो हमें एक अव्यवस्थित दर्शन लगता है, उसका प्रचार कैसे हुआ।"[8] हमारी दृष्टि से आगे के शब्द अधिक महत्त्व के हैं, क्योंकि याकोबी कहते हैं : "स्वयं मेरा यह मत रहा है, और मैंने इसे व्यक्त भी किया है,[9] परन्तु अब मैं जैन दर्शन को एक भिन्न दृष्टिकोण से देखता हूं। मेरा मत है कि जैन दर्शन का अपना एक तत्त्व-मीमांसीय आधार है, जिससे इसे ब्राह्मण तथा बौद्ध, दोनों ही विरोधी दर्शनों से अलग स्थिति मिल गयी है।"[10] याकोबी जैसे विद्वान आरंभ में जैन तत्त्व-मीमांसा के आलोचक रहे, परन्तु बाद में उन्होंने जैन चिंतन के समग्र स्वरूप को समझ लिया, इस तथ्य से हमें तसल्ली मिलती है कि जैन दर्शन के प्रति मुक्त दृष्टिकोण रखने से इसकी तत्त्व-मीमांसा की हमें सही जानकारी अवश्य मिल सकती है।

अन्य भारतीय दर्शनों के साथ इसकी तुलना करने के पहले जैन तत्त्व-मीमांसा के एक और स्वरूप की यहां चर्चा जरूरी है। जैनों की वास्तविकता, सत्ता तथा द्रव्य सम्बन्धी मान्यता के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि, जिस प्रकार जैन दर्शन में वास्तविकता तथा सत्ता को एकरूप माना गया है, उसी प्रकार वास्तविकता तथा द्रव्य को भी एकरूप स्वीकार किया गया है। इसी बात को जैन धर्मग्रन्थ में सूत्र रूप में कहा गया है : "सब एक है, क्योंकि सबका अस्तित्व है।"[11]

परन्तु यहां यह जान लेना चाहिए कि यह एकरूपता **द्रव्यार्थिक नय** की दृष्टि से ही सिद्ध है, **पर्यायार्थिक नय** की दृष्टि से नहीं। इस दूसरी दृष्टि से द्रव्य का जीव तथा अजीव में, और फिर अजीव का पांच और द्रव्यों में ही विभाजन सिद्ध है।

8. जिनविजय मुनि, संपा० 'स्टडीज इन जैनिज्म' (अहमदाबाद : जैन साहित्य संशोधक स्टडीज, 1946), पृ० 48
9. 'कल्पसूत्र' के अपने संस्करण की भूमिका (पृ० 3) में उन्होंने लिखा है कि महावीर का दर्शन "सही अर्थ में दर्शन न होकर विभिन्न विषयों पर व्यक्त मतों का संग्रह है। उन दार्शनिक मतों के ढेर में कोई मौलिक धारणा नहीं है।
10. जिनविजय मुनि, संपा०, पूर्वो०, पृ० 48
11. 'तत्त्वार्थसूत्र भाष्य', I. 35

सत्ता मीमांसा 20

जैन दर्शन में सत्ता सिद्धान्त के बारे में कोई परम दृष्टिकोण नहीं अपनाया गया है। वास्तविकता के सारतत्त्व के संदर्भ में न तो तादात्म्य पर बल दिया गया है, न ही विभेद पर। इसमें वास्तविकता को समझने के लिए तादात्म्य या विभेद में से किसी एक को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। जैन दर्शन में वास्तविकता के ज्ञान के लिए तादात्म्य तथा विभेद, दोनों को ही समान रूप से महत्त्व का माना गया है। किसी एक परम स्थिति को अपनाने से स्पष्ट इनकार देखने को मिलता है, और तादात्म्य या विभेद में से किसी एक के महत्त्व को कम आँकने से भी इनकार किया गया है। अन्य भारतीय दर्शनों की मान्यताओं की पृष्ठभूमि में हम जैनों के वास्तविकता सम्बन्धी दृष्टिकोण को भलीभांति समझ सकते हैं। एक सीमा पर शंकर का अद्वैत मत है, जिसके अनुसार तादात्म्य ही वास्तविकता है। दूसरी सीमा पर बौद्ध मत है, जिसके अनुसार विभेद में ही वास्तविकता का सारतत्त्व निहित है। इन दो सीमान्त या परम मतों के बीच में सांख्य, विशिष्टाद्वैत, वैशेषिक तथा द्वैत मत हैं। सांख्य तथा विशिष्टाद्वैत में विभेद को तादात्म्य का अनुगामी बनाया गया है, और वैशेषिक तथा द्वैत में तादात्म्य को विभेद का अनुगामी। हम इन दार्शनिक विचारों की क्रमानुसार चर्चा करेंगे।

अद्वैत मतानुसार, ब्रह्म ही एक परम वास्तविकता है, और यह अनुभवजन्य विश्व केवल दृश्यसत्ता या आभास है। हमें यह जो अनेकत्व या विभेद दिखायी देता है, उससे हमें वास्तविकता की जानकारी नहीं मिल सकती; इसमें हमें आधारभूत ब्रह्म का ही निर्देश मिलता है। यह दृश्यमान जगत अपने भौतिक कारण का वास्तविक परिणाम नहीं है। यह केवल एक आभास है। इस जगत के पीछे एकमात्र वास्तविकता अद्वैत ब्रह्म ही है।

शंकर की जगत सम्बन्धी सम्पूर्ण धारणा विवर्त के सिद्धान्त पर आधारित है, जिसके अनुसार अवास्तविक हमें वास्तविक प्रतीत होता है। अपने इस मत — जो वास्तविक प्रतीत होता है, उसका आवश्यक रूप से वास्तविक न होना — को भली-भांति समझाने के लिए शंकर ने रस्सी-सर्प के सादृश्य का उदाहरण प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। इस उदाहरण में रस्सी सत्य है और सर्प

मिथ्या। फिर भी सर्परूपी रस्सी में वास्तविकता के सारे गुण विद्यमान दिखाई देते हैं। इस तथ्य के कारण को नहीं समझा जाता; वहां विद्यमान रस्सी का बोध नहीं होता, बल्कि अविद्यमान सर्प का बोध होता है। जब यथार्थ ज्ञान का उदय (इस संदर्भ में यह ज्ञान कि वहां सिर्फ एक रस्सी है, सर्प नहीं है) होता है, तो रस्सी सर्प प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार, एकमात्र यथार्थता, ब्रह्म, जगत रूप में दिखायी देता है। और जब तक इस तथ्य को नहीं समझ लिया जाता, तब तक जगत का अनेकत्व स्वीकृत रहता है और इसे ही सम्पूर्ण वास्तविकता मान लिया जाता है। शंकर हमें जगत के अनेकत्व से, जो केवल आभास है और वास्तविक नहीं है, अद्वैत ब्रह्म की ओर ले जाते हैं, जो इस जगत में एकमात्र वास्तविकता है और जो जीवित तथा निर्जीव वस्तुओं के संसार के रूप में व्यक्त हुई है। इस प्रकार, शंकर की मान्यता के अनुसार, ब्रह्म एकमेव वास्तविकता है, जिसमें किसी प्रकार का विभेद नहीं है। उनका सत्ता-मीमांसीय दृष्टिकोण एक विशुद्ध समरूप सत्ता का है।

बौद्धों का वास्तविकता सम्बन्धी दृष्टिकोण अद्वैत के पूर्णतः विपरीत है। बौद्ध मत के अनुसार, **नित्यता, तादात्म्य** तथा **सामान्य** जैसी धारणाएं कल्पना की उपज हैं। उपनिषदों में वास्तविकता को व्यक्त करने के लिए **आत्मा, नित्यता, आनंद** आदि जो शब्द मिलते हैं, उनके स्थान पर बौद्ध ग्रन्थों में वास्तविकता तथा जीवन संबंधी मान्यताओं के लिए **नैरात्म्य, अनित्य** तथा **दुःख** शब्द देखने को मिलते हैं। विभिन्नता की धारणा, जो कि अनित्यता के सिद्धान्त पर आधारित है, बौद्ध सत्ता-मीमांसा में महत्त्व का स्थान रखती है। इसका विवेचन करते हुए थियोडोर श्चेरबात्स्की ने लिखा है : "बौद्ध दर्शन में एकमात्र और परम वास्तविकता **क्षण** है। प्रत्येक **क्षण** शेष क्रमिकता (संतान) से भिन्न या स्वतंत्र होता है। जिस किसी वस्तु का भी अस्तित्व है, वह दूसरी विद्यमान वस्तुओं से सर्वथा पृथक् है। अस्तित्व होने का अर्थ है पृथक् अस्तित्व ···। पृथक्त्व की धारणा अस्तित्व की धारणा की प्रमुख विशेषता है (भावलक्षण-पृथक्त्वात्)।"[1] "अतः प्रत्येक वास्तविकता स्वतंत्र वास्तविकता है। जो कुछ भी समरूप या समान है, वह वस्तुतः वास्तविक नहीं है।"[2] इस संदर्भ में श्चेरबात्स्की आगे लिखते हैं कि "दिक्काल में अंतर का अर्थ है, द्रव्य में अंतर।"[3]

बौद्धों ने किसी नित्य पदार्थ की धारणा को अस्वीकार किया है। केवल 'क्षण' ही वास्तविक है, और उनकी शृंखलाओं पर आधारित सातत्य की सभी

1. 'बुद्धिस्ट लॉजिक' (लेनिनग्राद, 1930), खण्ड प्रथम, पृ॰ 30
2. वही, खण्ड प्रथम, पृ॰ 105
3. वही, खण्ड द्वितीय, पृ॰ 282

धारणाएं हमारे मस्तिष्क की उपज हैं। इस प्रकार, बौद्ध तत्त्व-मीमांसा में विभेद या अन्तर की धारणा सर्वप्रमुख है। यदि सातत्य की धारणा को, जो नित्यत्व, सारतत्त्व एवं तादात्म्य की धारणा को जन्म देती है, अस्वीकार किया गया है, तो इसका कारण यह है कि प्रत्येक सत्ता पूर्णतः स्वअंशासित एवं स्वतंत्र है।

सांख्य में हम देखते हैं कि मात्र तादात्म्य या सत्ता और पूर्ण परिवर्तन या सातत्य की इन समस्याओं को सुलझाने के विशिष्ट प्रयास में इन्हें संश्लेषित किया गया है। सांख्य दर्शन में द्रव्य तथा चेतना के द्वैतवाद को स्वीकार किया गया है और इन्हे क्रमशः प्रकृति और पुरुष कहा गया है। ये वास्तविकता की दो प्रमुख किन्तु स्वतंत्र अवस्थाएं हैं। प्रकृति गतिशील किन्तु अचेतन तत्त्व की द्योतक है और पुरुष स्थिर किन्तु चेतन तत्त्व का। चूंकि प्रकृति गतिशील तत्त्व है, इसलिए, सभी प्राकृतिक परिवर्तन इसी के कारण होते हैं। ये परिवर्तन प्रकृति के घटकों— सत्त्व, रज तथा तम—के विविध प्रकार के संयोजनों से होते हैं। विभिन्न वस्तुओं के विकास तथा विघटन, दोनों से ही परिवर्तन की वास्तविकता सिद्ध होती है। प्रथम स्थिति में अधिकाधिक विभेद पैदा होते हैं जो विभिन्न परिणामों को जन्म देते हैं। दूसरी स्थिति में संसार की विविध वस्तुएं विघटित हैं और आरंभिक समरूप स्थिति की ओर अग्रसर होती हैं। इस प्रकार, इस दर्शन में परिवर्तन वास्तविक है।

परन्तु परिवर्तन की यह धारणा, जो विभेद की धारणा की ओर निर्देश करती है, सांख्य के **सत्कार्यवाद** से ही सुस्पष्ट हो सकती है। इस सिद्धान्त के अनुसार, कार्य कारण से पूर्णतः भिन्न नहीं है; यह कारण में शुरू से ही विद्यमान रहता है। इसे समझाने के लिए सामान्यतः सूत और वस्त्र का उदाहरण दिया जाता है। माना गया है कि वस्त्ररूप-कार्य सूतरूप कारण में पहले से विद्यमान रहता है। कारण और कार्य में भेद यही है कि, कार्य कारण की एक विशिष्ट प्रकार की संस्थापना (संस्थानभेद) है। सांख्य में कारण और कार्य के बीच के तादात्म्य को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि इनके बीच के भेद का महत्त्व अपने-आप घटता जाता है।

विशिष्टाद्वैत : नाम से ही इसका वास्तविकता सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट है। वास्तविकता या ब्रह्म अद्वैत नहीं है, परन्तु इसकी जटिल समग्रता में एकता एवं अनेकता दोनों ही समाहित हैं। जहां शंकर परम तादात्म्य को मानते हैं, जिसमें विभेद लुप्त हो जाते हैं, वहां रामानुज के दर्शन में विभेद को मन की उपज, और इसलिए कल्पना मानकर दूर नहीं कर दिया गया है, बल्कि एक स्थायी सत्ता के साथ समाहित कर लिया गया है।

यह समग्रता तीन परम तत्त्वों—**अचित्, चित्** तथा **ईश्वर**—से निर्मित है। इनमें अचित् तत्त्व भौतिक वस्तुओं तथा चित् तत्त्व जीवों का द्योतक है। एक

तरफ ईश्वर और दूसरी तरफ चित् तथा अचित् के बीच का सम्बन्ध उसी प्रकार का है, जिस प्रकार किसी वस्तु और उसके गुणों में होता है। वस्तु से पृथक् गुणों का कोई महत्त्व नहीं होता, परन्तु फिर भी वे ईश्वर से उसी प्रकार भिन्न हैं जिस प्रकार शरीर आत्मा से भिन्न होता है। इस प्रकार, परम ब्रह्म ऐसी जटिल समग्रता है जिसमें एक विश्वात्मा और उसके आश्रित – **जगत** और **जीव** -- समाहित हैं। पी० एन० श्रीनिवासचारी विशिष्टाद्वैत के विभेद सम्बन्धी दृष्टि-कोण का **बौद्ध** तथा अद्वैत मतों से अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखते हैं : "वस्तु-रहित गुण का **बौद्ध** मत गुण-रहित वस्तु के अद्वैत मत के विपरीत है, परन्तु इन परम मतों का सामंजस्य **ब्रह्म** के **विशेषण** के रूप में विशिष्टाद्वैत के जगत सम्बन्धी सिद्धान्त में हो जाता है।"[4]

वैशेषिक मत : विभेद या **विशेष** पर बल दिये जाने के बारे में इस दर्शन की ख्याति है, और महत्त्व का तथ्य यह है कि **विशेष** को वास्तविकता के छह तत्त्वों में से एक माना गया है। ये छह तत्त्व हैं : **द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष** और **समवाय**। चूंकि इस दर्शन का नामकरण सत्ता-मीमांसीय तत्त्व **विशेष** के आधार पर हुआ है, इसलिए स्पष्ट है कि **विशेष** को अन्य तत्त्वों के समान नहीं माना गया है, फिर चाहे तत्त्वों की सूची में इसके समावेश का जो भी महत्त्व हो। गार्बे ने लिखा है : "पांचवें तत्त्व **विशेष** को वैशेषिक में महत्त्व दिये जाने का कारण यह है कि परमाणुओं के विभेद ही जगत की सृष्टि संभव बनाते हैं। इसीलिए वैशेषिक का नामकरण विभेदार्थी शब्द **विशेष** के आधार पर हुआ है।"[5]

वैशेषिक की मूलभूत मान्यता के अनुसार, किसी भी वास्तविक सत्ता को उसमें अन्तर्निहित **विशेष** के बिना समझा नहीं जा सकता। विशेष के कारण ही किसी एक सत्ता को शेष सभी सत्ताओं से पृथक् करके पहचाना जा सकता है। वैशेषिक की **समवाय** की धारणा इसे **बौद्ध** दर्शन से स्पष्ट करती है। **बौद्ध** दर्शन 'पूर्ण अन्तर' को स्वीकार करता है। दोनों मतों के बीच का यह अंतर बौद्धों के विशिष्ट **स्वलक्षणवाद** से स्पष्ट है। **समवाय** एक संश्लेषणात्मक तत्त्व है, और सम्बद्ध वस्तुओं के बीच में भेद पैदा कराने में भागीदार नहीं है। इस प्रकार, अन्तर के महत्त्व को कायम रखा जाता है, और तादात्म्य को दूर रखा जाता है।

द्वैत मत : इस मत में भेद या अन्तर पर जो बल दिया गया है, उसका कारण है **स्वतंत्र** तथा **परतंत्र** तत्त्वों का भेद। केवल ईश्वर ही स्वतंत्र सत्ता है;

4. 'विशिष्टाद्वैत', पृ० 230
5. वैशेषिक पर लेख, 'इन्साइक्लोपिडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स' खण्ड 12, पृ० 570

जीव तथा प्रकृति की सत्ता ईश्वर पर आश्रित है। द्वैत मत का मुख्य अभिप्राय यह है कि जीव (और जगत) ब्रह्म से पृथक् हैं, और जीव तथा ब्रह्म के बीच के इस मौलिक अन्तर को समझना ही मोक्षप्राप्ति का आरंभिक साधन है। आत्मा को 'नेति' कहा गया है, और महावाक्य से मुख्यत: तात्पर्य है जीवात्मा तथा विश्वात्मा के बीच का अन्तर। इस अन्तर को द्वैत मत में जो महत्त्व दिया गया है, उसके बारे में इस मत के एक विशेषज्ञ लिखते हैं : "किसी जीव या वस्तु की सत्ता इसीलिए होती है कि उसी वर्ग की अन्य वस्तुओं से, और इसीलिए अन्य वर्गों के सदस्यों से भी, उसका अन्तर होता है। इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए भाषा के माध्यम का या किसी बाह्य भाव का इस्तेमाल हुआ हो या नहीं, यह अन्तर वस्तु या जीव का एक मूलभूत गुण है। किसी वस्तु की पहचान इसीलिए होती है कि वह अन्य वस्तुओं से भिन्न है। विषय के व्यावहारिकतावादी उद्देश्य के अनुसार, और स्वयं वस्तुओं के मूलभूत एवं आवश्यक संयोजन के अनुसार इस अंतर पर बल दिया गया है। इस अन्तर से ही तादात्म्य को महत्त्व प्राप्त होता है।"[6]

उपर्युक्त जानकारी से स्पष्ट है कि किसी वस्तु की पहचान के लिए उसके विशेषक स्वरूप को समझना जरूरी होता है। इसमें संदेह नहीं कि एक प्रकार से वस्तु और उसके गुण एक-से होते हैं, परन्तु वे पूर्णत: एकरूप नहीं होते। इसीलिए हम वस्तु और इसके गुणों के बीच के अन्तर की सार्थक चर्चा कर पाते हैं। इस सबका सारतत्त्व यह है कि द्वैत तत्त्वमीमांसा में तादात्म्य की बजाय अन्तर को महत्त्व दिया गया है।

विभिन्न प्रकार के तत्त्वमीमांसीय सिद्धांतों के पुनर्विलोकन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि वास्तविकता का विशुद्ध एकत्व या सुस्पष्ट अनेकत्व के साथ मेल बिठाने का प्रयत्न किया गया है। जहां चरमपंथी मतों को नहीं अपनाया गया, तो उसका कारण यह है कि उस सिद्धांत में वास्तविकता के विवेचन में दोनों (एकत्व या अनेकत्व) में से एक धारणा को अधिक महत्त्व दिया गया है।

जैन दर्शन में ऐसे किसी दृढ़ मत को नहीं अपनाया गया है, तो इसका एक सरल एवं सुस्पष्ट कारण है। सरल इसलिए कि विषय को तोड़ा-मोड़ा नहीं गया है, और न ही अमूर्तता में उलझाया है। यह सुस्पष्ट इसलिए है कि इसमें जनसाधारण और दार्शनिक दोनों को ही अपनी प्रतिध्वनि सुनाई देगी। जैन दार्शनिकों के अनुसार, वास्तविकता इतनी जटिल है कि इसकी प्रकृति को स्पष्ट कर पाना कठिन है। ऐसी स्थिति में, बलपूर्वक यह कहना कि वास्तविकता की

6. आर० नागराज शर्मा, 'रेन ऑफ रिलिजन इन इंडियन फिलासफी', पृ० 239

व्याख्या, अन्य सभी उपायों को त्यागकर, एक विशिष्ट पद्धति से होनी चाहिए, जटिल को सरल बनाना है। वास्तविकता की जटिल प्रकृति का पूर्ण उद्घाटन सरल तर्कवाक्यों —विभिन्न मतों द्वारा संस्थापित और स्वीकृत तर्कवाक्यों — से नहीं हो सकता। सामान्य व्यक्ति तथा दार्शनिक दोनों ही कहते हैं कि वास्तविकता जटिल है। जहां सामान्य व्यक्ति हताश होकर वास्तविकता के दार्शनीकरण का प्रयास त्याग देता है वहां दार्शनिक इस तत्त्वमीमांसीय समस्या का सुस्पष्ट हल प्रस्तुत करता है। जैन दार्शनिक इस मामले में अपवाद सिद्ध होता है, क्योंकि उसके मतानुसार, तादात्म्य, नित्यता तथा परिवर्तन ये सब सत्य एवं वास्तविक हैं।

एक विद्वान के मतानुसार, "उद्भव और विनाश परिवर्तन की दो अवस्थाएं हैं, और इसलिए हम इन्हें संयुक्त रूप से वास्तविकता के गतिशील तत्त्व मान सकते हैं; नित्यता को हम स्थायी तत्त्व मान सकते हैं।"[7] अपने इस कथन के समर्थन में वह इन्द्रभूति के प्रश्नों और महावीर के उत्तरों का हवाला देते हैं। महावीर के प्रमुख गणधर इन्द्रभूति उनसे पूछते हैं: वास्तविकता क्या है (किम् तत्त्वम्) ? महावीर का पहला उत्तर होता है: 'उद्भव'। यही प्रश्न जब दोहराये गये तो उन्होंने क्रमशः उत्तर दिये : 'विनाश' और 'स्थूलता'।[8]

वास्तविकता के सूक्ष्म विवेचन से पता चलता है कि जैन दार्शनिकों के अनुसार, न केवल द्रव्य बल्कि इसके बदलते रूप भी वास्तविक हैं। जैन दर्शन के यथार्थवाद की सुसंगतता उन विविध तत्त्वों के विवेचन से स्पष्ट हो जाती है जो वास्तविकता के घटक माने गये हैं। अब हम इन तत्त्वों की कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे।

7. वाई० जे० पद्मराजिह, पूर्वो० पृ० 127
8. वही, पृ० 127

जीव

21

जैन मतानुसार, द्रव्य छह तत्त्वों से निर्मित है : जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। चूंकि ये सभी तत्त्व वास्तविक और स्वतंत्र हैं इसलिए इन्हें भी द्रव्य माना जाता है।

इनमें जीव तत्त्व चेतन किन्तु रूप-रहित है।[1] पुद्गल तत्त्व अचेतन किन्तु रूप वाला है, और धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल तत्त्व अचेतन एवं रूपरहित हैं।[2] इस प्रकार, जैनों के अनुसार, वास्तविकता को न केवल दो व्यापक तत्त्वों—चेतन तथा भौतिक—में बल्कि तीन तत्त्वों—चेतन, भौतिक, और एक ऐसा तत्त्व जो अचेतन तथा अभौतिक दोनों है—में विभक्त किया जा सकता है। भगवतीसूत्र में हम देखते है कि द्रव्य को दो भागों में बांटा गया है—रूपिन् और अरूपिन् ·· परन्तु तत्त्वों की संख्या के बारे में कोई भेद नहीं है। यह इससे स्पष्ट है कि रूपिन् के अन्तर्गत पुद्गल का समावेश हुआ है, और शेष तत्त्व अरूपिन् के अन्तर्गत आते हैं। हम संक्षेप में इन छह द्रव्यों की विशेषताओं का विवेचन करेंगे पहले हम जीव तत्त्व पर विचार करेंगे और फिर अजीव पर, जिसके अन्तर्गत शेष पांच तत्त्वों का समावेश होता है।

जीव : जैन मतानुसार, जीव वास्तविक और अनादि-अनन्त है, और इनकी संख्या अनंत है। रूपरहित होने के कारण ये सभी अगोचर हैं। इस तत्त्व की प्रमुख विशेषता है इसमें चेतना का होना, और इसीलिए यह दर्शन तथा ज्ञान की प्राप्ति में समर्थ है।

यह जीव शब्द केवल मानव आत्मा का ही द्योतक नहीं है। व्यापक रूप से यह चेतना का द्योतक है। जैनों के अनुसार, चेतना सत्ता की चार विभिन्न गतियों में प्रकट होती है। इन विभिन्न गतियों के द्योतक चेतना के ये विविध स्तर हैं : तिर्यंच्,[3] मनुष्य, नारकी और देवता। जैन ग्रंथों में और जैन मन्दिरों-

1. 'तत्त्वार्थसूत्र', V. 5
2. वही, V. 4
3. इस 'तिर्यंच्' शब्द में वनस्पति के स्तर का भी समावेश होता है। इसकी परिभाषा की गई है : "वे जीव जो स्वर्ग, नरक तथा मनुष्य लोक में रहते हैं।" यह परिभाषा 'तत्त्वार्थसूत्र' (IV. 28) में देखने को मिलती है। 'तिर्यंच्' की इस परिभाषा से तथा

में जो अकसर हमें स्वस्तिक का चिह्न दिखायी देता है, वह जीव की चार भिन्न गतियों का द्योतक है :—
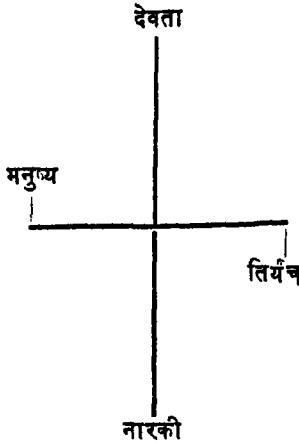
नारकी स्तर को थोड़ी देर के लिए छोड़ दिया जाय, तो यह कहा जा सकता है कि अन्य स्तर उन बढ़ते स्तरों के द्योतक हैं जिनमें से गुजरकर जीव अन्त में मुक्ति प्राप्त करता है। जीव के विकास की इन विभिन्न अवस्थाओं को पर्याय कहा गया है। इनमें से प्रत्येक अवस्था में जीव में यथार्थ परिवर्तन होते है, हालांकि इसका लक्षण नष्ट नहीं होता। ये परिवर्तन जन्म, विकास तथा मृत्यु में प्रकट होते हैं।

कर्म के सम्पर्क में आने से जीव बन्धन में फंस जाता है और फिर जन्म-मृत्यु का चक्र शुरू होता है। कर्म के साथ जीव का सम्बन्ध अशुद्धता का द्योतक माना जाता है, और इसलिए जीव की बन्धनावस्था को अशुद्ध कहा गया है। मोक्ष की प्राप्ति के बाद जीव शुद्ध हो जाता है। यहां यद्यपि हमने दो प्रकार के जीवों अशुद्ध जीव और शुद्ध जीव - की चर्चा की है, परन्तु यह स्मरण रखना जरूरी है कि ये एक-दूसरे से पूर्णतः भिन्न नहीं हैं। दोनों प्रकार के जीवों के गुणों की तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी :

चेतना की धारणा से हमें अहिंसा के कठोर प्रतीत होनेवाले सिद्धान्त के बारे में कुछ विशिष्ट जानकारी मिलती है। जैनों की 'अहिंसा' में पेड़-पौधों तथा बीजों को भी पीड़ा पहुंचाने की मनाही है।

	अशुद्ध जीव	शुद्ध जीव
1.	इसमें चेतना होती है परन्तु केवल सीमित रूप में।	इसमें परिपूर्ण असीम चेतना होती है।
2.	अवभान तथा परिज्ञान की क्षमता होती है।	अवभान तथा परिज्ञान का चरम विकास हो चुका होता है, और ये एक-दूसरे के समरूप हुए माने जाते हैं।
3.	इसमें प्रभुत्व है, यानी जीवन में विभिन्न गतियां प्राप्त करने की क्षमता है।	पूर्णतः प्रभुत्वसम्पन्न होता है।
4.	इसमें कार्य की क्षमता होती है। इसमें स्वतंत्र इच्छाशक्ति होती है, इसलिए यह कर्त्ता कहलाता है।	इसका कर्म पर पूर्ण अधिकार हो जाता है। इसलिए यह सही अर्थ में कर्त्ता है।
5.	भोक्ता होता है।	यह सही अर्थ में भोक्ता होता है। यह परमानन्द भोगता है।
6.	इसका आकार देहमात्र का होता है।	पूर्ण आध्यात्मिक अवस्था को प्राप्त होता है।
7.	अमूर्त स्वरूप होता है, फिर भी कर्मी शरीर से सम्बन्ध रहता है।	कर्मी शरीर के नष्ट हो जाने से पूर्णतः अमूर्त हो जाता है।
8.	यह सदैव कर्म के साथ संयुक्त रहता है।	यह कर्म के बन्धन से पूर्णतः मुक्त हो जाता है।
9.	सभी जीवन-तत्त्वों के समान सजीव होता है।	शुद्ध एवं सिद्धिप्राप्त आत्मा है।

इन दो प्रकार के जीवों की इन विशेषताओं से स्पष्ट हो जाता है कि अशुद्ध जीव और शुद्ध जीव में न तो कोई स्पष्ट भेद है, न ही प्रतिद्वंद्विता।

अशुद्ध जीव के दो प्रकार हैं—स्थावर और त्रस। स्थावर जीवों को एकेन्द्रिय माना गया है और इनके पांच भेद बताये गये हैं: पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। ये सूक्ष्मतर जीव इन्द्रिय-गोचर नहीं होते।

पृथ्वीकाय के उदाहरण हैं: धूल, मिट्टी, पत्थर, धातुएं, सिंदूर, हरताल। जलकाय के उदाहरण हैं: पानी, तुषार, बर्फ, कुहरा। अग्निकाय के उदाहरण हैं: ज्वालाएं, कोयले, उल्काएं, विद्युत्। वायुकाय के उदाहरण हैं: प्रभंजन, चक्रवात। और वनस्पतिकाय के उदाहरण हैं: जिनका शरीर उनके-जैसे दूसरों

के सहयोग से बना होता है—जैसे, प्याज और लहसुन, और जिनका अपना शरीर होता है— जैसे, पेड़, पौधे, इत्यादि।[4]

त्रस जीवों के भेद हैं: द्वीन्द्रिय (स्पर्श और रसना युक्त जीव), त्रीन्द्रिय (स्पर्श, रसना और घ्राण युक्त प्राणी), चतुरिन्द्रिय (स्पर्श, रसना, घ्राण और नेत्र युक्त प्राणी), और पंचेन्द्रिय (स्पर्श, रसना, घ्राण, नेत्र और कर्ण युक्त प्राणी)।

द्वीन्द्रिय जीवों के उदाहरण हैं: कृमि, शंख, जलौक। त्रीन्द्रिय जीवों के उदाहरण हैं: उद्दंश, चीटियां, पीडक जन्तु, पतंगे।[5] चतुरिन्द्रिय जीवों के उदाहरण हैं: भ्रमर, मक्खियां मच्छर। पंचेन्द्रिय प्राणियों के उदाहरण हैं: मछली-जैसे जलचर, हाथी-जैसे थलचर और वायुचर पक्षी। इन सबको संज्ञी और असंज्ञी प्राणियों में बांटा गया है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार संज्ञी प्राणी वे है, जिनमें अन्तर्चेतना होती है।[6] पंचेन्द्रिय प्राणी जो गर्भधारक होते हैं, जैसे चौपाये, भेड़, बकरी, हाथी, शेर, आदि संज्ञी होते हैं।[7] असंज्ञी प्राणी सहजवृत्ति वाले या मनरहित होते हैं।

मनुष्य गति : मानव जाति को सामान्यत: दो वर्गों में विभाजित किया गया है। एक वर्ग के अन्तर्गत वे प्राणी आते हैं जो अपंग होते हैं, यानी उनके सभी अवयवों तथा इन्द्रियों का पूरा विकास नहीं हुआ होता; और दूसरे वर्ग के अन्तर्गत उनका समावेश होता है जिनके शरीरावयव एवं ज्ञानेन्द्रिय भली-भांति विकसित हुए होते हैं। इस दूसरे वर्ग के मनुष्यों को मोक्षप्राप्ति में आसानी होती है, क्योंकि आत्मसंयम, जिसकी मोक्षप्राप्ति के लिए अत्या-

4. देखिये, याकोबी, संपा० 'जैन सूत्राज', II, पृ० 215
5. जैन लोग व्यवहार रूप में इस वर्ग के प्राणियो को कितना महत्त्व देते हैं, इसका परिचय देते हुए श्रीमती सिक्लेयर स्टिवेसन अपने ग्रन्थ 'द हार्ट ऑफ जैनिज्म' में लिखती हैं: "एक जैन सज्जन ने मुझे बताया है कि इस वर्ग के कीड़ों की संतुष्टि के लिए एक श्रद्धालु गृहस्थ जब भी इन कीड़ों को पाते तो उन्हें एक खास बिस्तर पर रख देते। फिर उस बिस्तर पर रात भर सोने के लिए किसी गरीब आदमी को वह छह आने देते थे। जो भी हो, दूसरे लोग इस बात को स्वीकार नहीं करते। परन्तु यह सही है कि कोई भी सच्चा जैनी पीड़क कीड़ों को नहीं मारेगा। वह बड़ी सावधानी से उन्हें अपने शरीर पर से या घर से उठावेगा और बाहर किसी सुरक्षित स्थान पर छोड़ आयेगा। उनके मतानुसार, ऐसे कीड़ों की रक्षा करना उनका कर्तव्य स्थान पर छोड़ आवेगा। उनके मतानुसार, ऐसे कीड़ों की रक्षा करना उनका कर्तव्य है, क्योंकि उनके द्वारा गंदगी फैलाने से ही ये पैदा हुए हैं।
6. 'तत्त्वार्थसूत्र', II. 25
7. वही

बश्यकता होती है, उसी व्यक्ति के लिए संभव है जिसके ज्ञानेन्द्रिय पूर्णतः विकसित होते हैं। यही कारण है कि मनुष्य में जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति पाने की आकांक्षा पैदा करने के लिए भी उसका शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य ठीक होना जरूरी माना गया है। जब मनुष्य अस्वस्थ होता है, या उसका मानसिक स्वास्थ्य ठीक नहीं होता, तो वह अपना मानसिक संतुलन, जो नैतिक जीवन की तैयारी के लिए एक आवश्यक स्थिति है, खो बैठता है।

देवगति : मनुष्यों की तुलना में देवों का जीवन लम्बा होता है और वे कई प्रकार के सुख भोगते हैं। जैन मतानुसार, देवगति 'चरमगति' नहीं है। देव भी अनन्त परमानन्द नहीं भोग पाते। वे भी अपने कर्मानुसार मनुष्य या पशुयोनि में पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं। कर्मों के अनुसार वे उत्पाद रूप में प्रकट होते हैं और कर्मों का क्षय होने पर यह अवस्था समाप्त हो जाती है। यहां भी वे मनुष्यों से भिन्न होते हैं। मनुष्यों की तरह देवों की मृत्यु का कोई निर्धारक कारण नहीं होता, इसलिए उनकी जीवनावस्था एक विशेष पर्याय में समाप्त नहीं होती। देवगति के बारे में विशेष बात यह है कि उनकी शारीरिक एवं मानसिक क्षमताएं पूर्णतः विकसित होती हैं।[8]

देवों के चार प्रकार बताये गये हैं :

1. **भवनवासी** : इन्हें निम्नतम स्तर के देव माना गया है, और इन्हें दस वर्गों में बांटा गया है।[9]

2. **व्यन्तर** : इनके बारे में कहा गया है कि ये तीनों लोकों के वासी होते हैं। ये पूर्णतः स्वतंत्र नहीं होते, और कभी-कभी मनुष्यों की भी सेवा करते हैं। इन्हें आठ वर्गों में बांटा गया है।[10]

3. **ज्योतिष्क** : इन्हें पांच वर्गों में बांटा गया है—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, और स्थिर तारे। केवल मनुष्यलोक के लिए ही ये निरंतर गतिमान दिखाई देते हैं। जैन मतानुसार जिन अनेक सूर्यों तथा चन्द्रों का अस्तित्व है, उसकी यहां थोड़ी व्याख्या करना आवश्यक है। विशेषतः जम्बूद्वीप के संदर्भ में दो सूर्यों तथा दो चन्द्रों की कल्पना की गयी है। उनकी मान्यता के अनुसार, "सूर्य तथा अन्य आकाशस्थ पिण्ड चौबीस घंटों में मेरु की आधी परिक्रमा ही कर सकते हैं। इसलिए भारतवर्ष में जब रात्रि का अंतिम समय होता है तो सूर्य, जिसने पहले दिन को प्रकाशित किया था, मेरु के केवल पश्चिमोत्तर कोने में पहुंच

8. कर्मग्रन्थ, I. 115 b

9. ये दस वर्ग हैं : असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार।

10. ये आठ वर्ग हैं : किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच.

पाता है। इसलिए भारतवर्ष के पूर्व में जिस सूर्य का उदय होता है, वह पहले दिन का अस्त हुआ सूर्य नहीं, बल्कि दूसरा सूर्य होता है। लेकिन हमारी आंखें इन दो सूर्यों में भेद नहीं कर पातीं। तीसरे दिन की सुबह को पुन: पहला सूर्य प्रकट होता है जो उस समय तक मेरु के दक्षिण-पूर्व के कोने पर पहुंच जाता है। इसी प्रकार जैनों ने दो चन्द्रों, दो प्रकार के नक्षत्रों आदि की कल्पना की है। अत: सभी आकाशस्थ पिण्ड द्विगुणित हैं। लेकिन चूंकि इस जोड़े का केवल एक पिण्ड सदैव भारतवर्ष में प्रकट होता है और दोनों पिण्ड एक-दूसरे के सदृश होते हैं, इसलिए आकाशस्थ घटनाक्रम में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता।"[11]

4. **वैमानिक :** जिनके दो वर्ग हैं : **कल्पोपपन्न और कल्पातीत।** 'कल्प' का अर्थ है 'देवलोक'।[12]

5. **नरकगति :** यह नरक में पैदा हुए जीव की अवस्था है। ताप, शीत, भूख, प्यास तथा वेदना इसे कष्ट देते रहते हैं। घृणा इनमें कूट-कूटकर भरी होती है और इसीलिए ये बुरे विचार रखते हैं और दूसरों को पीड़ा पहुंचाते हैं।

ये नारकीय जीव पृथ्वी के नीचे क्रमश: अधिकाधिक निम्न क्षेत्रों में रहते हैं।[13] जिस जीव का निवासस्थल जितना ही निम्नतर होगा, वह देखने में उतना ही अधिक विद्रूप होगा और उसको मिलनेवाली यातनाएं भी उतनी ही अधिक कष्टप्रद होंगी। प्रथम तीन नरकों को तप्त, चौथे नरक को तप्त एवं शीतल दोनों, और अन्तिम दो को शीतल माना गया है।

ऊपर जीव की जिन चार अवस्थाओं का विवेचन किया गया है, उससे हमें इस जैनमत की जानकारी मिलती है कि, निम्नतम स्तर के प्राणी से लेकर उच्चतम स्तर के प्राणी तक में चेतना का सातत्य है। सिद्धि की उच्चतम अवस्था में चेतना शुद्ध हो जाती है। स्पष्टत: यह अवस्था सामान्य मानव-स्तर से काफी ऊपर की होती है। इस चेतना-सिद्धांत का निष्कर्ष यह है कि किसी भी स्तर के जीव को हेय या घृणा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। परन्तु अकसर यह होता है कि मानव-अस्तित्व के बारे में यह सत्य, कि पूर्णता की ओर यह बीच की एक अवस्था है, भुला दिया जाता है। परिणामत: मानव को इतना अधिक महत्त्व

11. जी थीबो, 'एस्ट्रोनोमी' (ग्रुनोरिस डेर इन्डो-एरिशैन फिलोलोगी, खण्ड 3, भाग 9) पृ० 21, हैलमुथ फोन ग्लासेनप्प के 'द डाक्ट्रिन ऑफ कर्मन् इन जैन फिलोसोफी', पृ० 59 से उद्धृत।
12. 'तत्त्वार्थसूत्र', IV. 1-27
13. सात नरक ये हैं : रत्नप्रभा, सर्कारप्रभा, बलुकप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तम:प्रभा और महातम:प्रभा ।

दिया जाता है कि उससे निम्न स्तर के प्राणियों की पूर्णतः उपेक्षा हो जाती है। यदि अल्बर्ट स्वाइट्जेर के शब्दों में कहें, तो जैनों का चेतना-सिद्धांत जीवन के प्रति श्रद्धा पर बल देता है। इस प्रकार, अहिंसा, जिसे जैन दर्शन एवं संस्कृति में बड़ा महत्त्व दिया गया है, की कठोर एवं आवश्यक नैतिकता के लिए एक मजबूत नींव तैयार हो जाती है।

अजीव 22

अजीव द्रव्यों को पांच तत्त्वों में बांटा गया है। है: पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। यहां हम इनकी क्रमानुसार चर्चा करेंगे।

पुद्गल : यह तत्त्व भूतद्रव्य या भौतिक वस्तुओं का द्योतक है। द्रव्य अनुत्पन्न, अविनाशी और वास्तविक है। इसलिए यह भौतिक जगत् 'कल्पना की सृष्टि' नहीं है, बल्कि वास्तविक है, इसका ज्ञाता के मस्तिष्क से स्वतंत्र अस्तित्व है। यदि हम वास्तववाद के चिंतन पर विचार करें, तो जैन वास्तववाद का गहन अर्थ हमारी समझ में आ जायगा।

किसी भी दर्शन के वास्तववादी स्वरूप की सही पहचान उसकी द्रव्य सम्बन्धी धारणा से हो सकती है। इस संदर्भ में खोजबीन की मान्य एवं परम्परागत विधि यह जानना है कि, जगत् का वस्तुतः अस्तित्व है या नहीं। इस समस्या के विश्लेषण में जुटे हुए व्यक्ति की दृष्टि से पूछा जानेवाला विशिष्ट सवाल होगा: "उसके बाहर, उसके ग्रहणक्षम मस्तिष्क के परे, जगत् का अस्तित्व है या नहीं ?" यदि उत्तर है कि इसका अस्तित्व है—उसके अनुभवों से स्वतंत्र अस्तित्व है तो यह वास्तववादी दृष्टिकोण का द्योतक है। यदि उत्तर 'नहीं' है, तो यह भाववादी दृष्टिकोण होगा। जैन दर्शन में **पुद्गल** शब्द द्रव्य का द्योतक है और इसकी मूल परिभाषा है: "वह जिसे पंचेन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जा सकता है।" इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह बाह्य जगत् का ज्ञान है। और चूंकि प्रत्येक इन्द्रिय से ज्ञाता को बाह्य जगत् के बारे में एक विशेष प्रकार का ज्ञान मिलता है, इसलिए प्राप्त सम्पूर्ण ज्ञान बाह्य जगत् की विभिन्न दशाओं का द्योतक होता है। उदाहरण के लिए, आंखों से हमें बाह्य जगत् की वस्तुओं के आकार एवं रंग के बारे में जानकारी मिलती है। इसी प्रकार, स्पर्शेन्द्रिय व्यक्ति को सूचना देती है कि स्पर्श की गयी वस्तु कठोर है या मुलायम। इसी प्रकार, अन्य ज्ञानेन्द्रिय भी जगत् की अन्य दशाओं की जानकारी प्राप्त कराती रहती है। इसी विवेचन के संदर्भ में 'इन्द्रियगोचर' शब्द को समझना चाहिए। क्योंकि अनुभव बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित करता है और द्रव्य अनुभवजन्य वस्तु के रूप में ज्ञाता की प्रकृति स्पष्ट करता है, इसलिए द्रव्य की जैन परिभाषा का महत्त्व इस बात में है कि यह इस दर्शन

के वास्तववादी दृष्टिकोण को निस्संदिग्ध रूप से स्पष्ट करती है।

जैनग्रन्थों में द्रव्य की जो दूसरी परिभाषा देखने को मिलती है, वह न केवल इसके वास्तववादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करती है बल्कि साथ ही इसकी वास्तविकता की गतिशील धारणा को भी व्यक्त करती है। यह परिभाषा समास शब्द पुद्गल के शब्दोत्पत्तिमूलक अर्थों पर आधारित है। पुद् शब्द पूरण का द्योतक है और गल गलन की क्रिया का। इसलिए पुद्गल या द्रव्य वह है, जो पूरण तथा गलन द्वारा रूपान्तरित होता रहता है। द्रव्य की संरचना के बारे में जो जैनमत है, उस पर विचार करने से इस परिभाषा का सही महत्त्व स्पष्ट हो जायगा।

विभाजन की विधि से द्रव्य के चरम घटकों का पता लगाया जा सकता है। जब किसी वस्तु को विभाजित किया जाता है, तो उसके टुकड़ों को पुनः विभाजित किया जा सकता है; परन्तु विभाजन की इस प्रक्रिया को अनन्त काल तक जारी रख पाना संभव नहीं है। क्योंकि इस प्रक्रिया में अन्त में एक ऐसी स्थिति आती है जब आगे और विभाजन संभव नहीं होता। यहां हम द्रव्य के चरम घटक की स्थिति पर पहुंच जाते हैं। इसे ही जैन दर्शन में **अणु या परमाणु** का नाम दिया गया है।[1] इस प्रकार की व्याख्या का अर्थ यह है कि स्वयं परमाणु लघुतर घटकों के संयोजन से निर्मित नहीं है। इस स्थिति को एक अन्य ग्रन्थ में अधिक स्पष्ट किया गया है : "परमाणुओं का निर्माण द्रव्य के विभाजन से होता है, द्रव्य के संयोजन से नहीं।"[2] परमाणुओं के संयोजन से जो मॉलिक्यूल बनते हैं, उन्हें जैन दर्शन में **स्कंध** कहा गया है। इन स्कंधों के संयोजन से ही विविध गुणोंवाली विभिन्न वस्तुएं बनी हैं। परमाणुओं और स्कंधों में मुख्य अन्तर यह है कि परमाणुओं का विभाजन संभव नहीं, और इनके संयोजन से ही स्कंधों का निर्माण होता है। दूसरे, परमाणु को हम अपनी आंखों से देख नहीं सकते, परन्तु स्कंध को देख सकते हैं। स्कंधों को न केवल परमाणुओं में विभाजित किया जा सकता है, बल्कि इनके संयोजन से विविध वस्तुओं का निर्माण भी किया जा सकता है। यह भी मत देखने को मिलता है कि, "अधिक परमाणुओं से बने कुछ स्कंध दिखायी देते हैं, कुछ नहीं दिखायी देते।"[3] कहा गया है कि स्कंधों की दृश्यता या सामान्य गोचरता विभाजन तथा संयोजन की संयुक्त प्रक्रिया पर आश्रित है। "यदि कोई स्कंध विखण्डित होता है, और एक टुकड़ा दूसरे स्कंध से जुड़ जाता है, तो वह संयुक्त स्कन्ध इतना स्थूल होगा कि दिखायी

1. 'सर्वार्थसिद्धि' V. 25
2. 'तत्त्वार्थसूत्र', V. 27
3. 'सर्वार्थसिद्धि', V. 28

देने लगेगा।"[4] इस मत के समर्थन में एक जैन पण्डित हाइड्रोजन और क्लोराइन का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। ये दोनों तत्त्व आंखों से नहीं दिखायी देते, परन्तु विभाजन और संयोजन के बाद हाईड्रोक्लोरिक एसिड के दो मॉलिक्यूल को जन्म देते हैं, तो दृष्टिगोचर होते हैं।[5]

स्कंध के छह भेद बताये गये हैं :[6]

(1) **भद्र-भद्र** : ऐसे स्कंध जो विखण्डित होने पर पुनः अपनी अखण्ड स्थिति पर नहीं लौट सकते। ठोस पिण्ड इसके उदाहरण हैं।

(2) **भद्र** : ऐसे स्कंध विखण्डित होने पर पुनः जुड़ते हैं। द्रव पदार्थ इसके उदाहरण हैं।

(3) **भद्र-सूक्ष्म** : ये स्कंध स्थूल दिखायी देते हैं, परन्तु यथार्थ में सूक्ष्म होते हैं, क्योंकि इन्हें न विखण्डित किया जा सकता है, न भेदा जा सकता है, न ही हाथ में धारण किया जा सकता है। उदाहरण दिये गये हैं : सूर्य, ताप, छाया, प्रकाश, अंधकार, इत्यादि। इनके सूक्ष्म कणों का इन्द्रियों को अनुभव होता है।

(4) **सूक्ष्म-भद्र** : यह स्कंध भी स्थूल प्रतीत होता है, परन्तु यह सूक्ष्म भी होता है। उदाहरण दिये गये हैं : स्पर्श, गंध, वर्ण तथा ध्वनि की संवेदनाएं।

(5) और (6) ये दोनों ही अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और इन्द्रियों द्वारा अगोचर रहते हैं। उदाहरण बताये गये हैं : कर्म के अणु।

स्कंधों के पांच गुण हैं : स्पर्श, रस, गंध, ध्वनि और वर्ण। इन्हीं के कारण हम वस्तुओं में विभिन्न गुण देखते हैं। स्वयं परमाणुओं में गुणात्मक भेद नहीं होता। इस माने में जैनों का परमाणु सिद्धांत वैशेषिक के परमाणु सिद्धांत से भिन्न है। वैशेषिक में परमाणुओं में गुणात्मक भेद को स्वीकार किया गया है।

अतः यह स्पष्ट है कि तादात्म्य और परिवर्तन के रूप में वास्तविकता सम्बन्धी जैन मान्यता उनके परमाणु सिद्धांत में पूर्णतः प्रकट होती है। वस्तुओं में हम जो परिवर्तन देखते हैं वे उनके परमाणुओं के संयोजन के विभिन्न पर्यायों के कारण हैं और इन्हें ही वस्तुओं के पर्याय कहते हैं। परन्तु इन सभी पर्यायों की तह में चरम घटकों, यानी परमाणुओं का तादात्म्य भी अन्तर्निहित रहता है। स्वयं परमाणुओं में कोई परिवर्तन नहीं होता। केवल उनके संयोजन के पर्यायों में ही परिवर्तन होता है, जिससे वस्तुओं के विविध पर्याय जन्म लेते हैं।

4. वही
5. 'आउटलाइन्स आॅफ जैन फिलॉसफी', पृ० 74
6. देखिये, ए० चक्रवर्ती, 'रिलिजन ऑफ अहिंसा' (बम्बई : रतनचंद हीराचंद, 1957) पृ० 117

अतः यह कहा जा सकता है कि वास्तविकता के तादात्म्य-तत्त्व के दर्शन हमें चरम घटकों यानी परमाणुओं में होते हैं, और स्कन्ध में इनके संयोजन तथा स्कन्ध के विभाजन तथा संयोजन में हम परिवर्तन तत्त्व के दर्शन करते हैं।

धर्म : यह गति का तत्त्व है, और समस्त लोक में व्याप्त है। यह तत्त्व स्वयं वस्तुओं को गति नहीं देता, परन्तु विश्व की वस्तुओं की गति के लिए इसकी अत्यावश्यकता है। यह स्वयं गतिशील नहीं है, केवल गति का माध्यम है। मेहता लिखते हैं : "गति का यह माध्यम स्वयं गति पैदा नहीं करता, परन्तु उन्हें मदद करता है जिनमें गति की क्षमता होती है", जिस प्रकार जल मछली के गमनागमन में सहायक बनता है। जब जीवास्तिकाय-पुद्गलास्तिकाय गतिशील होते हैं, तो धर्मास्तिकाय उन्हें मदद करते हैं। धर्म यानी गति का यह माध्यम अजीवद्रव्य है, और चेतनारहित होता है।"[7]

पुद्गल की तरह धर्म के पंचेन्द्रिय गुण नहीं होते। अस्तित्व इसकी विशेषता है, इसलिए इसे उद्भूत नहीं माना जाता। अनुभववादी दृष्टि से इसके अनंत दिक्-बिन्दु यानी प्रदेश माने गये हैं, हालांकि अनुभवातीत दृष्टि से इसके एक ही प्रदेश की कल्पना की गयी है।

अधर्म : यह स्थिरता का तत्त्व है, और सर्वत्र व्याप्त है। यह जीव तथा पुद्गल के रुकने में सहायता देता है।[8] इसी तत्त्व के कारण गतिशील पिण्डों को आराम करने का अवसर मिलता है। यह सक्रिय रूप से गति में बाधा नहीं डालता। इस माने में यह पृथ्वी की तरह है, जो इस पर विद्यमान वस्तुओं के लिए एक विश्रामस्थली है। यह विश्राम चाहनेवाली वस्तुओं की गति में रुकावट नहीं डालती।

धर्म की तरह अधर्म में भी पंचेन्द्रिय गुणों का अभाव होता है। अधर्म में भी अनन्त प्रदेश माने गये हैं, परन्तु यह केवल अनुभववादी दृष्टि से ही सत्य है। अनुभवातीत दृष्टि से इसमें एक ही प्रदेश को माना गया है।

कहा गया है कि विश्व का यह व्यवस्थित रूप धर्म और अधर्म के कारण ही है। इनके अभाव में विश्व में अव्यवस्था फैल जाती है। यहां इस बात का जिक्र किया जा सकता है कि धर्म और अधर्म का यह सिद्धांत हिन्दू धर्म के धर्म तथा अधर्म के सिद्धांत के समान ही है। हिन्दू मान्यता के अनुसार, इन्हीं पर क्रमशः संसार का संतुलन तथा असंतुलन आश्रित है। परन्तु जहां जैन धर्म में इन्हें तत्त्वमीमांसीय रूप में माना गया है, वहां हिन्दू धर्म में ये नैतिक तत्त्व हैं। लेकिन भाववादी नीतिशास्त्र के तत्त्वमीमांसीय मूलाधार एवं परिणाम होते हैं,

7. 'आउटलाइन्स ऑफ जैन फिलॉसफी', पृ० 33
8. 'नियमसार', 30

इसलिए हिन्दू धर्म में भी धर्म तथा अधर्म की धारणाओं पर तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से विचार किया गया है।

आकाश : यह वास्तविक तत्त्व अनन्त दिक्-बिन्दुओं से निर्मित है। ये दिक्-बिन्दु अगोचर रहते हैं। आकाश को अनादि-अनन्त और अनिर्मित माना गया है।

आकाश के दो भेद किये गये हैं : लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश में द्रव्य का अस्तित्व रहता है, और यह हमारे सीमित विश्व का परिचायक है। इस लोकाकाश के परे जो द्रव्यरहित शुद्ध बाह्य आकाश है उसे अलोकाकाश कहा गया है।[9]

काल : यह अस्तिकाय अर्थात् बहुप्रदेशी नहीं है। इसका दिक् के साथ सह-अस्तित्व है। वस्तुओं में होने वाले परिवर्तन कालावधि के द्योतक होते हैं। चूंकि परिवर्तन को वास्तविक माना गया है, इसलिए काल को भी अनिवार्यत: वास्तविक माना गया है।

काल के दो भेद हैं : द्रव्यकाल और व्यवहारकाल। द्रव्यकाल की धारणा निरंतर एवं अनन्त काल-प्रवाह पर आधारित है[10] और व्यवहारकाल वह है जो वस्तुओं में परिवर्तन कराने में सहायक होता है। इसलिए वस्तुओं में होनेवाले परिवर्तनों में ही यह लक्षित होता है। काल को अनादि माना गया है।

9. 'द्रव्यसंग्रह' 19
10. वही, 21

नयवाद 23

जैनों का अनेकान्तवाद विभेद के सिद्धान्त पर आधारित है। आरंभतः यह विभेद मन और जगत् के बीच का है; परन्तु जैन दर्शन में इसे तार्किक सीमा तक पहुंचा दिया गया है, और इस प्रकार वास्तविकता तथा ज्ञान के अनेकान्तवाद की सृष्टि की गयी है। जैन दर्शन के अनुसार वास्तविकता संमिश्रित है — अनेक और अनेकान्त दोनों ही अर्थों में। जैन मतानुसार, न केवल अनेक यथार्थों का अस्तित्व है, बल्कि प्रत्येक यथार्थ इतना जटिल है कि उसे पूर्णतः समझ पाना कठिन है। इन जटिल यथार्थों के जो अनगिनत गुण-धर्म हैं और ये जिन अनगिनत संयोजनों को जन्म देते हैं, उससे स्पष्ट होता है कि वास्तविकता का ज्ञान अनेक दृष्टियों से ही संभव है। किसी भी पदार्थ को एक विशिष्ट दृष्टि से देखने के अभिप्राय को नय कहते हैं। दासगुप्त ने नयवाद को जो सापेक्ष अनेकवाद के रूप में ग्रहण किया है, उसका विशेष महत्त्व है, क्योंकि इससे हमें नयवाद को समझने में सुविधा होती है। वह लिखते हैं : "जैनों ने सभी पदार्थों को अनेकान्त माना; अर्थात्, उनके मतानुसार किसी भी चीज के बारे में पूर्ण अभिप्राय देना संभव नहीं, क्योंकि कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में ही संपूर्ण अभिप्राय सत्य होते हैं।"[1]

चूंकि पदार्थों को इनके अनगिनत गुणधर्मों के कारण अनगिनत पहलुओं से देखा जा सकता है, इसलिए नयों की संख्या भी अनन्त है। परन्तु जैन दार्शनिकों ने सुविधा के लिए नयों को सात वर्गों में बांटा है। नय एक विशिष्ट अभिप्राय या दृष्टिकोण है— एक ऐसा दृष्टिकोण जो अन्य अनेक दृष्टिकोणों को अस्वीकार नहीं करता, इसलिए यह ज्ञाता के ज्ञेय के बारे में आंशिक सत्यबोध का परिचायक होता है।[2] यह नय की एक व्यापक परिभाषा हुई। नयों के बारे में विशिष्ट जानकारी सात नयों के विवेचन में दी गयी है। ये सात नय हैं : **नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़** और **एवम्भूत**। यहां इनकी हम कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे।

1. पूर्वो०, प्रथम खण्ड, पृ० 175
2. देखिये, सी० जे० पद्मराजिह, पूर्वो०, पृ० 310

नैगम नय

विश्व की प्रत्येक वस्तु के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि इसमें सामान्य और विशेष दोनों ही प्रकार के गुण निहित रहते हैं। इसलिए उस वस्तु को सामान्य और विशेष गुणों के एक सम्मिश्रण के रूप में ही ग्रहण किया जा सकता है। नैगम नय वस्तु के सामान्य और विशेष स्वरूपों में से किसी की भी उपेक्षा नहीं करता। इसका अर्थ यह हुआ कि सामान्य को हम विशेष के बिना नहीं समझ सकते, और विशेष को सामान्य के बिना नहीं समझ सकते। उदाहरणार्थ, "मैं सचेतन हूं", यह तर्कवाक्य न केवल "मैं" की व्यक्तिता का, बल्कि 'मैं' द्वारा धारण किये गये सार्वभौमिक गुण 'चेतना' का भी द्योतक है।

नैगम नय में सामान्य तथा विशेष में जो अभेद है, उसका विश्लेषण बड़ा महत्त्वपूर्ण है। सामान्य और विशेष के एकीकरण का स्पष्ट अर्थ यह है कि जैन दार्शनिकों ने इन दोनों में पूर्ण अभेद या तादात्म्य का आरोपण करने की गलती नहीं की है। भेद का निर्देश है, परन्तु केवल सापेक्ष रूप में। इसी दृष्टिकोण से जैनों ने न्याय-वैशेषिक की, दो तत्त्वों के बीच पूर्ण भेद करने के लिए, आलोचना की है। न्याय-वैशेषिक की तरह जब ऐसा स्पष्ट भेद किया जाता है, तो उसे **नैगमाभास दोष** कहते हैं।

जैन परम्परा में पायी जानेवाली नैगम नय की एक और व्याख्या के अनुसार, यह एक या अनेक कार्यों का अंतिम अभिप्राय दरशाता है। इसके लिए **तत्त्वार्थसार** में एक उदाहरण है। एक व्यक्ति पानी, चावल और ईंधन लेकर जा रहा है। पूछे जाने पर कि वह क्या कर रहा है, वह उत्तर देता है: "खाना पका रहा हूं"[3], बजाय यह कहने कि, "मैं ईंधन ले जा रहा हूं", इत्यादि। इसका अर्थ यह हुआ कि, प्रत्येक क्रिया—पानी लाना, ईंधन जमा करना, आदि—एक उद्देश्य या प्रयोजन—भोजन बनाना—द्वारा नियंत्रित है। उत्तर देने के समय भोजन पकाने का काम नहीं होता, परन्तु इसकी प्राप्ति के लिए की जानेवाली हर क्रिया में प्रयोजन निहित रहता है।

संग्रह नय

यह वस्तुओं के विशिष्ट गुणों को नहीं, बल्कि सामान्य गुणों या वर्ग-विशेषताओं को समझने का दृष्टिकोण है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यह दृष्टिकोण उस मान्यता का विरोधी है जिसमें पदार्थों को सामान्य तथा विशेष के सम्मिश्रण के रूप में ग्रहण किया जाता है या पदार्थों के केवल विशेष गुणों पर विचार किया जाता है। यह ऐसा शुद्ध विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण है जिसके द्वारा

3. वाई० जे० पद्मराजिह, पूर्वो०, पृ० 314 पर उद्धृत

सामान्य-विशेष के सम्मिश्रण में सामान्य गुणों का चयन किया जा सकता है। वर्गीकरण की किसी भी प्रणाली का यही मूलाधार होता है कि विभिन्न व्यक्तियों या सत्ताओं में कुछ समानताएं भी होती हैं। संग्रह नय का सम्बन्ध इन्हीं वर्ग-विशेषताओं से है।

हमें इस नय को जैन चिंतन का एक स्वयं-विरोधी तत्त्व समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। ज्ञानमीमांसीय संदर्भ में हमने पहले बताया है कि सामान्य के बिना विशेष और विशेष के बिना सामान्य निरर्थक है, तो यह तर्क हो सकता है कि, अब यहां जैन दार्शनिक विशेष के विरोध में सामान्य को अधिक महत्त्व दे रहे हैं। परन्तु यहां सामान्य को महत्त्व दिये जाने का कारण यह है कि, कुछ संदर्भों में एक या दूसरे का चयन करना बड़ा उपयोगी होता है। जैन दार्शनिक इस तथ्य से भलीभांति परिचित थे, इसीलिए उन्होंने सांख्य और अद्वैत में संग्रहभास के दोष दिखलाये हैं। यह तर्कवाक्य कि "सब सत् है", पूर्णतः सार्थक है, यदि इसका यह अर्थ न हो कि 'सत्' के परिपूरक 'असत्' का, जिसे सामान्य के प्रत्याख्यान के समय पार्श्व में रखा जाता है, निषेध किया गया है।

व्यवहार नय

व्यवहार नय का सम्बन्ध पदार्थों के विशेष गुणों से होता है। परन्तु इस तथ्य को नहीं भुला दिया जाता कि ये विशेष गुण सामान्य गुणों से सम्बन्धित रहते हैं। अर्थात्, विशेष गुणों की कल्पना स्वतंत्र रूप से नहीं की जाती। उदाहरणार्थ, जब हम कहते हैं कि "पदार्थ का अस्तित्व व पर्याय है", तो यहां हम पदार्थ के विशेष गुणों का परिचय देते हैं। तात्पर्य यह कि, जब हम पदार्थ के कुछ विशिष्ट गुणों को निर्धारित करते हैं, तो वे विशिष्ट गुण सारतत्त्व के रूप में पदार्थ के ही द्योतक होते हैं। अर्थात्, जब विशेष का उल्लेख होता है, तो सामान्य की उपेक्षा नहीं होती।

व्यवहारनयभास का दोष तब होता है जब सामान्य की उपेक्षा करके आनुभाविकता पर विशेष बल दिया जाता है। जैनों के अनुसार, चार्वाकों ने अनुभवजन्य ज्ञान को सर्वाधिक महत्त्व देकर यही गलती की है। चार्वाकों ने केवल इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही स्वीकार किया है।

ऊपर जिन तीन नयों पर विचार किया गया है, वे वस्तुओं में तादात्म्य की ही खोज करते हैं। व्यापक रूप से, ये तीन नय प्रतिपाद्य वस्तुओं की द्रव्यात्मकता पर विचार करते हैं। इसलिए इन्हें द्रव्यार्थिक नय कहा गया है। आगे जिन चार नयों का विवेचन करना है, उनमें वस्तुओं के पर्यायों पर विचार किया गया है। इसलिए उन्हें पर्यायार्थिक नय कहा गया है।

ऋजुसूत्र नय

यह नय वस्तु के वर्तमान पर्याय या रूप को ही महत्त्व देता है। यह न केवल अतीत और भविष्य पर विचार नहीं करता, बल्कि सम्पूर्ण वर्तमान को भी महत्त्व नहीं देता। यह वस्तु के अस्तित्व की क्षणावस्था यानी गणितीय वर्तमान का चुनाव करता है। भूत बीत चुका होता है और भविष्य अभी अजन्मा रहता है, इसलिए किसी अविद्यमान या अजन्मी वस्तु की चर्चा असंगत होगी। हम केवल वर्तमान, गणितीय तत्क्षण के बारे में ही दृढ़मत हो सकते हैं। इस दृष्टि-कोण को एक उदाहरण द्वारा समझाया गया है : अभिनेता को तभी राजा समझा जाता है जब वह रंगमंच पर राजा का अभिनय करता होता है। रंगमंच के बाहर उसे राजा समझना उचित नहीं है।

अनुभवजन्य से वर्तमान के इस चुनाव पर भी अधिक जोर देना उचित नहीं है। वस्तु-जगत् के इस वर्तमान की महत्ता तथा सापेक्ष सत्यता को स्वीकार करने के साथ-साथ हमें इसके सातत्य स्वरूप को भी स्मरण रखना चाहिए।[4]

शब्द नय

यह नय समानार्थी शब्दों से सम्बद्ध है। समानार्थी शब्द उनमें निहित विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। काल, विभक्ति-प्रत्यय, आदि में अन्तर होने पर भी अर्थों का साम्य विद्यमान रहता है। जैन ग्रन्थों में इस नय के हमें दो उदाहरण देखने को मिलते हैं। कुंभ, कलश और घट एक ही वस्तु – घड़े – के द्योतक हैं। इसी प्रकार इन्द्र, शक्र तथा पुरन्दर जैसे नाम भी एक ही व्यक्ति के द्योतक हैं। परन्तु यहां विभिन्न समानार्थी शब्दों या नामों में पूर्ण तादात्म्य होने की बात नहीं कही गयी है। जब पूर्ण तादात्म्य का दावा किया जाता है, तो वह शब्दनयभास दोष होगा।

समभिरूढ़ नय

एक अर्थ में यह नय पहले नय के एकदम विपरीत है। यह नय शब्दभेदों पर विचार करता है। समानार्थी शब्द भी इसके अपवाद नहीं हैं। जो शब्द हमें सामान्यत: समानार्थी प्रतीत होते हैं, वे भी उनके उत्पत्तिमूलक अध्ययन के बाद असमान प्रकट होंगे। उदाहरण के लिए, इन्द्र शब्द 'समृद्धिशाली' के लिए, शक्र, शब्द 'शक्तिशाली' के लिए और पुरन्दर शब्द 'शत्रुहंता' के लिए प्रयुक्त होते हैं। शब्दों के मूलार्थों का भेद वास्तविक भेद होता है, और तदनुसार शब्दों के बाह्यार्थों में भी भेद होते हैं। एक प्राचीन जैन विद्वान के अनुसार, इस नय को

4. देखिये, सी० जे० पद्मराजिह, पूर्वो०, पृ० 320

अस्वीकार करने का अर्थ होगा घट और पट जैसे असमानार्थी शब्दों के बीच भी अभेद स्वीकार करना।

एक जैन पण्डित के मतानुसार, इस नय की सत्यता जैन भाषा दर्शन के दो सिद्धान्तों पर आधारित है। प्रथम सिद्धान्त यह है कि जो कुछ जानने योग्य है, उसे व्यक्त किया जा सकता है। अर्थात्, वस्तु-जगत् का ज्ञान शब्दों के माध्यम के बिना संभव नहीं। दूसरा सिद्धान्त यह है कि, तत्त्वत: एक शब्द का एक ही अर्थ, और एक अर्थ के लिए एक ही शब्द हो सकता है। इस प्रकार, कई शब्द, जिन्हें सुविधा के लिए हम एक ही अर्थ के द्योतक मान लेते हैं, वस्तुतः उतने ही अर्थ रखते हैं जितने कि वे शब्द होते हैं। अर्थात्, यह सिद्धान्त समानार्थी शब्दों को स्वीकार नहीं करता, बल्कि अर्थ और इसके शब्द के बीच में एक स्पष्ट सम्बन्ध स्थापित करता है (**वाच्यवाचकनियम**)।[5]

एवम्भूत नय

यह नय व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या पर आधारित है। इस व्युत्पत्तिमूलक विधि में हम उस मूल पर विचार करते हैं जिससे शब्द बनते हैं। **एवम्भूत नय** शब्दोत्पत्ति पर आधारित उसी समय के एक पर्याय पर विचार करता है। **एवम्भूत** शब्द का अर्थ है : शब्द और अर्थ की दृष्टि से पूर्णत: सत्य। पहले दिये गये एक उदाहरण में, किसी व्यक्ति को हम तभी **पुरन्दर** कह सकते हैं जब वह वास्तव में शत्रुओं का विनाश करता होता है। इसी प्रकार, किसी व्यक्ति को **शक्र** तभी कहा जायगा, जब वह वास्तव में अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर रहा हो।

ऊपर जिन नयों का विवेचन किया गया है, उनमें से प्रत्येक के सौ उपभेद माने गये हैं। अत: कुल मिलाकर सात सौ नय हैं। नयवाद के बारे में हमें दो अन्य मत भी देखने को मिलते हैं। एक मत छह नयों को स्वीकार करता है और दूसरा मत केवल पांच नयों को। प्रथम मत **नैगम** नय के अलावा शेष छह नयों को स्वीकार करता है, और दूसरा मत **समभिरूढ़** और **एवम्भूत** नयों का समावेश **शब्द** नय में करता है।

5. वही, पृ० 322-23

स्याद्वाद 24

स्याद्वाद जैन तत्त्वमीमांसा का सर्वाधिक महत्त्व का अंग है। इसके अनुसार कोई भी एक कथन सम्पूर्ण वास्तविकता को पूर्णतः व्यक्त नहीं करता। स्याद् शब्द का अर्थ है 'ऐसा हो' या 'यह भी संभव है'। यदि तत्त्वमीमांसीय अन्वेषण का उद्देश्य वस्तु-जगत् को जानना है तो, जैनों का कहना है कि, केवल कुछ सरल तात्त्विक कथनों से यह संभव नहीं है। वस्तु-जगत् बड़ा विलक्षण है, इसलिए कोई एक सरल कथन वास्तविकता के स्वरूप को पूर्णतः प्रकट नहीं कर सकता। इसी-लिए जैन दार्शनिकों ने विभिन्न कथनों के साथ 'स्याद्' जोड़ने की योजना प्रस्तुत की है। जैसा कि आगे स्पष्ट होगा, जैन दार्शनिकों ने एक दृढ़ कथन के स्थान पर सात कथन पेश किये हैं। दासगुप्त 'स्याद्वाद' की विशेषता के बारे में लिखते हैं : "प्रत्येक कथन की सत्यता केवल सापेक्ष होती है। कोई भी कथन परम सत्य नहीं होता। अतः सत्य की प्रत्याभूति के लिए प्रत्येक कथन के पहले 'स्याद्' जोड़ना जरूरी है। इससे स्पष्ट हो जायेगा कि वह कथन केवल सापेक्ष है, यानी उसके साथ कोई शर्त या दृष्टिकोण जुड़ा हुआ है, और वह किसी माने में परम नहीं है। कोई भी निर्णय पूर्णसत्य या पूर्ण असत्य नहीं होता। सभी निर्णय किसी अर्थ में सत्य होते हैं और किसी अन्य अर्थ में असत्य।"[1]

जैनों का नयवाद स्याद्वाद के लिए एक प्रकार की चौखट प्रस्तुत करता है; क्योंकि इसके अनुसार वस्तु-जगत् को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है, और किसी भी एक दृष्टिकोण को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि जैनों ने चार्वाक तथा अद्वैत आदि मतों की आलोचना करने के साथ-साथ उनके प्रामाणिक विचारों को स्वीकार भी किया है। इसका कारण यह है कि एक विशिष्ट दृष्टिकोण से विरोधी मतों के विचार सही थे। और इन्हीं मतों की जैनों ने इसलिए आलोचना की है कि इनमें एक विशिष्ट दृष्टि-कोण को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है, और अन्य दृष्टिकोणों के होने से इनकार किया गया है। वस्तु-जगत् के बारे में कुछ ठोस जानकारी प्राप्त करने के लिए नयवाद का विस्तार करके सात तर्कवाक्यों पर आधारित स्याद्वाद की रचना

1. पूर्वो०, खण्ड प्रथम, पृ० 179

की गयी है। इसीलिए स्याद्वाद को सप्तभंगीनय भी कहते हैं।

स्याद्वाद में वस्तु-जगत् के बारे में एक निश्चित दृष्टिकोण है, इस बात को जैनधर्म के आलोचक बिलकुल नहीं समझ पाते। वे सात तर्कवाक्यों की योजना के महत्त्व को भी ठीक से नहीं समझ पाते। चूंकि प्रत्येक कथन के साथ स्याद् (शायद) उपसर्ग जोड़ा जाता है, इसलिए इसके आलोचकों का कहना है कि यह वस्तु-जगत् के बारे में जैनों के संदेहवादी दृष्टिकोण का परिचायक है। सात तर्कवाक्यों में से किसी एक के दृढ़ रूप से सत्य होने का दावा नहीं किया जाता, इसलिए ये आलोचक जैनों पर यह आरोप लगाते हैं कि वस्तु-जगत् के बारे में उनका अपना कोई अभिमत नहीं है।

परन्तु वस्तु-जगत् के बारे में जैनों का एक विशिष्ट मत अवश्य है, और वह यह है कि, वस्तु-जगत् के बारे में कोई भी एक निश्चित मत नहीं हो सकता। सप्तभंगीनय से यह बात स्पष्ट हो जाती है। जैनों की मान्यता है कि ये सात तर्कवाक्य साथ मिलकर हमें वस्तु-जगत् का बोध कराते हैं। तार्किक दृष्टि से, एक कथन एक विचार या मत का द्योतक होता है, और जब वस्तु-जगत् के बारे में निर्णय दिये जाते हैं और तर्कवाक्य प्रस्तुत किये जाते हैं, तो उन्हें वस्तु-जगत् के स्वरूपों का द्योतक माना जाता है। जैनों के मतानुसार, वस्तु-जगत् के बारे में कोई दृढ़ मत संभव नहीं है; इसलिए किसी एक निर्णय से वास्तविकता का बोध संभव नहीं, और इसलिए कोई भी एक कथन ऐसी किसी चीज की पूर्ण व्याख्या नहीं कर सकता जो अत्यंत जटिल और अनेकान्त हो।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामान्य रूप से स्याद्वाद नयवाद का परिपूरक है। नयवाद में वस्तु-जगत् के प्रति विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है, तो स्याद्वाद में संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण। चूंकि विश्लेषण और संश्लेषण एक-दूसरे से असम्बद्ध नहीं होते, इसलिए शुद्ध विश्लेषणात्मक दृष्टि में भी हम संश्लेषण के तत्त्व देखते हैं, और उसी प्रकार वस्तु-जगत् के संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण में विश्लेषण के तत्त्व देखते हैं। स्पष्ट शब्दों में : नयवाद के अनुसार, किसी भी एक मत को विशेष महत्त्व देना दोषपूर्ण होगा। अन्य शब्दों में, विभिन्न मतों का अपना महत्त्व होता है, और इनमें से प्रत्येक वास्तविकता का परिचायक होता है; इसलिए वे सब मिलकर हमें वास्तविकता का बोध कराते हैं। इसी प्रकार, स्याद्वाद में अभिधान के पर्यायों के संश्लेषणात्मक स्वरूप को महत्त्व दिया जाता है। स्याद्वाद की स्पष्ट धारणा के अनुसार, संश्लेषित विभिन्न कथनों में से प्रत्येक से वस्तु-जगत् के बारे में कुछ जानकारी मिलती है।

अब हम स्याद्वाद की कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे। अभिधान के सात पर्याय हैं :

1. द्रव्य हो सकता है (स्याद् अस्ति द्रव्यम्)

2. द्रव्य नहीं भी हो सकता है (स्याद् नास्ति द्रव्यम्)
3. द्रव्य हो सकता है और नहीं भी हो सकता है (स्याद् अस्ति च नास्ति च द्रव्यम्)
4. द्रव्य अनिर्वचनीय हो सकता है (स्याद् अवक्तव्यं द्रव्यम्)
5. द्रव्य हो सकता है और अनिर्वचनीय भी हो सकता है (स्याद् अस्ति च अवक्तव्यं द्रव्यम्)
6. द्रव्य नहीं हो सकता है और अनिर्वचनीय भी हो सकता है (स्याद् नास्ति च अवक्तव्यं द्रव्यम्)
7. द्रव्य हो सकता है, नहीं भी हो सकता है और अनिर्वचनीय भी हो सकता है (स्याद् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं द्रव्यम्)

चूंकि विश्व की प्रत्येक वस्तु द्रव्यमय होती है, इसलिए हम इन सात तर्क-वाक्यों की एक विशेष वस्तु द्वारा व्याख्या करेंगे। जैन दार्शनिकों का अनुकरण करते हुए हम घट को उदाहरण-स्वरूप लेंगे। इन तर्कवाक्यों का विश्लेषण आरंभ करने के पहले यह जानना उपयोगी होगा कि अस्ति और नास्ति शब्द क्रमश: विचारार्थ वस्तु के अस्तित्व तथा अनस्तित्व के द्योतक हैं।

1. यह कथन कि "घट हो सकता है" स्पष्टत: घट के अस्तित्व का परि-चायक है। इस कथन में जो "हो सकता है" शब्द हैं, उनका अर्थ यह है कि यह कथन पूर्णत: सत्य नहीं है, यानी शेष अन्य कथनों की सत्यता के अभाव में यह सत्य नहीं है। यह कथन एक दृष्टि से, एक विशिष्ट नियोग की उपस्थिति की दृष्टि से ही वैध है। इस संदर्भ में जैन दार्शनिक चार प्रमुख नियोगों का उल्लेख करते हैं: **द्रव्य, क्षेत्र, काल** और **पर्याय**। जहां तक घट की बात है, यह मिट्टी या अन्य किसी द्रव्य का बना हो सकता है। जब हम घट को द्रव्य मिट्टी की दृष्टि से देखते हैं: यदि यह मिट्टी से बना है, और केवल मिट्टी से ही बना है, तभी हम इसके अस्तित्व का दावा कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार, घट के अस्तित्व का दावा उसका एक विशिष्ट क्षेत्र में अस्तित्व होने से ही किया जा सकता है, और ऐसे किसी क्षेत्र की दृष्टि से नहीं किया जा सकता जहां उसका अस्तित्व नहीं है। अन्य दो नियोगों की व्याख्या भी इसी प्रकार की जा सकती है। घट का अस्तित्व एक विशिष्ट कालावधि में विद्यमान होने की दृष्टि से ही सत्य है। इसके निर्माण के पहले घट नहीं था और इसके विनाश के बाद यह नहीं रहेगा। इन दृष्टियों से घट के अस्तित्व का दावा नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार, जब मिट्टी को विशेष प्रकार से ढाला जाता है और इसे विशेष आकार दिया जाता है, तभी हम कहते हैं "यह घट है", अन्यथा नहीं। यदि इसे भिन्न आकार दिया जाए, तो इसका अस्तित्व भिन्न पर्याय में होगा; हमारे द्वारा दावा किये गये पर्याय में न होगा।

2. यह कथन कि "घट नहीं है", पहले कथन का विरोधी नहीं है। केवल परस्पर-विरोधी कथनों में ही हमें पूर्ण मतभेद दिखाई देता है; अतः जब हम एक कथन की सत्यता का दावा करते हैं, तो दूसरे की असत्यता स्पष्ट हो जाती है। इसी प्रकार, एक को असत्य घोषित करने पर दूसरे की सत्यता स्पष्ट हो जाती है। अकसर प्रथम और दूसरे कथनों के बीच के मतभेद को परस्पर-विरोधी समझा जाता है, और इसलिए मान लिया जाता है कि, यह कहना कि दोनों कथन "घट है" और "घट नहीं है" सत्य हैं, अस्पष्ट और अतार्किक है। तात्पर्य यह कि, यदि घट का अस्तित्व है, तो इसके अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता; और यदि घट का अस्तित्व नहीं है तो इसके अस्तित्व का दावा नहीं किया जा सकता।

दूसरे कथन में, जहां तक विशिष्ट गुणों का सम्बन्ध है, घट के अस्तित्व से इनकार नहीं किया गया है। इनकार तभी किया जाता है, जब ऐसे गुणों के बारे में दावा किया जाता है जो स्पष्ट रूप से विद्यमान नहीं हैं। सुस्पष्ट शब्दों में, "घट का अस्तित्व नहीं है" का अर्थ यह नहीं कि "घट के रूप में घट का अस्तित्व नहीं"। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि घट का अस्तित्व पट या अन्य किसी वस्तु के रूप में नहीं है।

3. और 4. तीसरा और चौथा कथन —"घट हो सकता है और नहीं भी हो सकता है" और "घट अनिर्वचनीय हो सकता है"—स्पष्टतः इस जैनमत के द्योतक हैं कि वस्तु-जगत् जटिल है, इसलिए इसे इसके विविध गुणों की दृष्टि से देखा जाय, तो हम इसके गुणों को संयुक्त रूप से प्रस्तुत कर ही सकते हैं। उदाहरणार्थ, घट के अस्तित्व तथा अनस्तित्व के दो गुणों के संदर्भ में : तीसरे और चौथे कथन में दो पर्यायों - अस्तित्व तथा अनस्तित्व—के संयोजन को दो भिन्न तरीकों से प्रस्तुत किया गया है।

तीसरे कथन में क्रमशः दो पर्यायों को प्रस्तुत किया गया है। "घट है और नहीं भी है," इस कथन में प्रथम अंश घट के अपने एक गुण, इस स्थिति में अस्तित्व के 'गुण', की दृष्टि से सत्य है। इस कथन का दूसरा अंश "नहीं है" अन्य गुणों के अनस्तित्व की दृष्टि से सत्य है। तीसरे मिश्रित कथन के इन दो अंशों को क्रमशः ज्ञापित किया जाय, तो ये वस्तु-जगत् के बारे में स्पष्ट जानकारी दे सकते हैं। इसलिए कहा जाता है कि इस तीसरे कथन में दो क्रमिक गुणों का संयुक्त रूप से प्रतिज्ञापन किया गया है।

चौथा कथन "घट अनिर्वचनीय है" इस मान्यता पर आधारित है कि इसकी दोनों अवस्थाओं पर एक साथ ध्यान देना मनोवैज्ञानिक और तार्किक दृष्टि से असंभव है। अस्तित्व और अनस्तित्व एक-दूसरे से भिन्न होने के कारण एक साथ ही वस्तु पर आरोपित नहीं हो सकते। इसलिए अस्तित्व तथा

अनस्तित्व की अवस्थाओं का एकसाथ दावा किया जाता है, तो वह वस्तु अनिर्वचनीय रह जाती है। दो पर्यायों को इस प्रकार एक साथ प्रस्तुत करने को गुणों का सह-प्रस्तुतीकरण कहा गया है।

आरंभिक चार कथनों का विवेचन करने के बाद एम० हिरियन्ना लिखते हैं : "यहां पहुंचकर शायद यह लगे कि सूत्र यहीं समाप्त हो जायगा। परन्तु अभी कुछ अन्य तरीके बाकी हैं जिनसे उक्त विकल्पों को संयुक्त किया जा सकता है। अत: तीन कथन और जोड़े गये हैं, ताकि यह न लगे कि वे विधेय छोड़ दिये गये हैं। फलस्वरूप जो वर्णन उपलब्ध होता है, वह सर्वांगपूर्ण बन जाता है, और वह असैद्धांतिक भी नहीं रह जाता।"[2]

5. पांचवा कथन "घट है और अनिर्वचनीय है" इस तथ्य का द्योतक है कि अस्तित्व रूप की दृष्टि से देखा जाय तो घट वर्णनीय है, परन्तु इसके अस्तित्व तथा अनस्तित्व दोनों ही रूपों पर एक साथ विचार किया जाय तो यह अनिर्वचनीय हो जाता है।

6. छठा कथन "घट नहीं है और अनिर्वचनीय है", पांचवें कथन की तरह, घट की वर्णनीयता तथा अनिर्वचनीयता दोनों का दावा करता है। वस्तु में मौजूद गुणों के अलावा जिन गुणों का अनस्तित्व है वे भी इसे अनिर्वचनीय नहीं बनाते; निषेधात्मक वर्णन तब भी संभव होता है। लेकिन यदि नकारात्मक और सकारात्मक वर्णनों का प्रयत्न एकसाथ हो, तो अनिर्वचनीयता की स्थिति उत्पन्न होती है।

7. सातवां कथन "घट है, नहीं है और अनिर्वचनीय है" इस तथ्य का द्योतक है कि दो अवस्थाओं —सकारात्मक और नकारात्मक —का क्रमिक प्रतिपादन वर्णनीयता की ओर निर्देश करता है, और एकसाथ प्रतिपादन घट की अनिर्वचनीयता की ओर।

किसी भी वस्तु की शाश्वतता, अशाश्वतता, तादात्म्यता तथा भिन्नता आदि के संदर्भ में इन सात तर्कवाक्यों को सूत्रित किया जा सकता है। जैन दार्शनिकों का विश्वास है कि विधेय के ये सात पर्याय हमें वस्तु-जगत् के बारे में पर्याप्त जानकारी देने में समर्थ हैं।

स्याद्वाद के अपने इस विवेचन को हम ईलियट के एक उद्धरण से समाप्त करेंगे। ईलियट ने एक वाक्य में ही इस सिद्धांत का सार प्रस्तुत कर दिया है। वह लिखते हैं : "स्याद्वाद का सारतत्त्व, इसे इसकी शास्त्रीय शब्दावली से बाहर निकालने के बाद, यह प्रतीत होता है कि, अनुभव की स्थिति में संपूर्ण

2. 'आउटलाइन्स ऑफ इंडियन फिलॉसफी' (लंदन : जार्ज एलेन एण्ड अनविन लि० 1957), पृ० 165

सत्य का प्रतिपादन असंभव है, और अनुभवातीत अवस्था में भाषा अधूरी पड़ जाती है ···।"[3] वस्तु-जगत् की व्याख्या के लिए किये गये कष्टसाध्य प्रयासों के अलावा यह सिद्धांत जैन दार्शनिकों के दार्शनिक समस्याओं के प्रति अपनाये गये शालीन दृष्टिकोण का भी परिचायक है।

3. पूर्वो०, खण्ड प्रथम, पृ० 108

पंचम भाग : नीतिशास्त्र

नैतिक नियम 25

महावीर ने अपने अनुयायियों को जिन पांच महाव्रतों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह—की शिक्षा दी है, उनकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं।

इन पांच महाव्रतों में पहले व्रत को सर्वाधिक महत्त्व का माना जाता है। जैन धर्म की प्रमुख विशेषता है कि इसमें अहिंसा के पालन पर सबसे अधिक बल दिया गया है। अहिंसा शब्द में जो निषेधार्थक प्रत्यय लगा हुआ है, उससे कुछ गलतफहमी होती है और अहिंसा की नैतिक शिक्षा में दयाभाव का जो दर्शन विद्यमान है उसे पूरी तरह नहीं समझा जाता। एस० सी० ठाकुर कहते हैं : 'अहिंसा' का शाब्दिक अर्थ सद्भावना तथा प्रेम का स्पष्ट भाव तो नहीं है, परन्तु मतलब करीब-करीब यही होता है। इसी प्रकार…अहिंसा शब्द में व्याकरण का निषेधार्थक प्रत्यय होने पर भी यह स्पष्टतः दयाभाव के दर्शन का द्योतक है।"[1] इस शब्द का गहन अर्थ इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन चूंकि चेतना के सातत्य (जैसा कि इस ग्रन्थ में पहले बताया गया है) में आस्था रखता है, इसलिए मानता है कि मनुष्य को किसी भी प्राणी की (आध्यात्मिक) प्रगति में बाधा डालने का अधिकार नहीं—चाहे वह प्राणी एकेन्द्रिय ही क्यों न हो। पीड़ा पहुंचाने का अर्थ स्पष्ट रूप से बाधा डालना है, इसलिए बाधक न बनने की शिक्षा दी गयी थी।

अहिंसा शब्द को कभी-कभी अवध (वध न करना) के अर्थ में भी लिया जाता है। यद्यपि सतही तौर पर ये दोनों शब्द बिना किसी स्पष्ट भाव के निषेधार्थक शिक्षा के द्योतक हैं, तथापि गहन विश्लेषण के बाद पता चलता है कि इस शिक्षा में जीवन का स्पष्ट एवं सर्वांगीण दृष्टिकोण निहित है। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अहिंसा की इस शिक्षा के पालन की काफी आलोचना भी हुई है। उदाहरणार्थ, जन धर्म सम्बन्धी अपने एक लेख में मोनियर विलियम्स ने लिखा है कि अहिंसा के पालन में जैन लोग अन्य सभी भारतीय सम्प्रदायों से

1. 'क्रिश्चियन एण्ड हिन्दू एथिक्स' (लंदन : जार्ज एलेन एण्ड अनविन लि०, 1969), पृ० 202

आगे हैं और इसे उन्होंने असंगति की सीमा तक पहुंचा दिया है। इस संदर्भ में उन्होंने बम्बई के रोगी जानवरों के अस्पताल का उल्लेख किया है।[2] श्रीमती स्टीवेन्सन का मत है कि जीवन के लिए अहिंसा का नियम वैज्ञानिक दृष्टि से असंभव है, क्योंकि यह प्रकृति के नियम के विरुद्ध है।[3] यहां यह जो दो विचार व्यक्त किये गये हैं, उनके पीछे यह कारण है कि अनेक विद्वानों को इस धारणा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की जानकारी नहीं है। देवताओं को खुश करने के नाम पर यज्ञों में निरीह पशुओं की जो हत्या होती थी, उसके प्रति जैनों का जो विवादात्मक दृष्टिकोण रहा है, उससे सभी परिचित हैं, इसलिए उसके विश्लेषण की यहां आवश्यकता नहीं है। उस जमाने में प्राणियों के साथ किये जाने वाले दुर्व्यवहार के प्रति व्यापक रूप से आवाजें उठायी जा रही थीं। जीव-हत्या के प्रति जैनों (और बौद्धों) ने जो आवाजें उठायी हैं, उसका प्रभाव भारतीय नीतिशास्त्र पर भी पड़ा है। व्यवहार में अहिंसा का पालन महात्मा गांधी ने भी किया है। गांधीजी ने स्वयं कहा है कि उन्हें जैन धर्म के तथा संसार के अन्य धर्मों के ग्रन्थों से बड़ा लाभ हुआ है।[4]

अहिंसा तथा (अवध) सामान्यतः 'कार्य' माने जाते हैं ताकि मनुष्य यदि इन निषिद्ध कार्यों को नहीं करता, तो उसे पापों से मुक्ति मिल जा सकती है। परन्तु न केवल उसे ऐसे कार्य से बचना होता है बल्कि उसके मनोभाव भी शुद्ध होने चाहिए। चूंकि किसी भी कार्य के पीछे मनोभाव एवं इच्छा निहित रहती है, इसलिए केवल कार्य से बचने का अर्थ यह नहीं होगा कि कोई मनोभाव भी नही था। संभव है कि मनोभाव वहां विद्यमान रहा हो, परन्तु बड़ी कठिनाई से ही कार्य को टाल दिया गया हो। इसीलिए जैन दार्शनिक इस बात पर जोर देते हैं कि मन दुष्ट मनोभावों यानी हिंसावृत्ति से पूर्णतः मुक्त होना चाहिए। **तत्त्वार्थ-सूत्र** में हम पढ़ते हैं कि हिंसा का अर्थ लापरवाही या उपेक्षा से प्राणियों को चोट या पीड़ा पहुंचाना है, और यह सब घमंड, दुराग्रह, आसक्ति तथा घृणा जैसी वृत्तियों के कारण होता है।[5] अतः यह स्पष्ट है कि भौतिक क्रिया को मानसिक क्रिया से अलग नहीं माना गया था। एक अन्य जैन ग्रंथ में मन का महत्त्व इस प्रकार बताया गया है : "प्रमाद से पाप घटित होता है, और किसी प्राणी को वस्तुतः पीड़ा भी न पहुंची हो तो भी जीवात्मा दूषित होती है। इसके विपरीत, सावधान तथा धार्मिक व्यक्ति, जो विषयासक्त नहीं है और पशुओं के

2. टी० जी० कालघटगी, 'जैन व्यू ऑफ लाइफ' (शोलापुर : जैन संस्कृति संरक्षक संघ, 1969), पृ० 163 में उद्धृत
3. वही, पृ० 287
4. देखिये, 'द लेटर फ्राम गांधीजी,' माडर्न रिव्यू, अक्तू० 1916
5. 'तत्त्वार्थ-सूत्र', VII. 8

प्रति दयाभाव रखता है, यदि अकस्मात् किसी प्राणी को चोट भी पहुंचा दे तो उसे पाप नहीं लगेगा।"[6]

इस प्रकार, अहिंसा के पालन के लिए मन और शरीर के बीच सहयोग आवश्यक समझा गया है। इसके साथ हार्दिक प्रेम की सम्यक् भाषा भी चाहिए। इस प्रकार, न तो हिंसा का विचार होता है न भाषा, जिससे पता चलता है कि हिंसा के लिए कोई उकसा नहीं रहा है। अतः अहिंसा के सिद्धान्त का अर्थ है—विचार, शब्द तथा कार्य की शुद्धता, जो जागतिक प्रेम और सभी प्राणियों के प्रति करुणा रखने से प्राप्त होती है—फिर वे प्राणी विकासक्रम के कितने भी निम्न स्तर के क्यों न हो। जैनों के अहिंसा सम्बन्धी मत को सही रूप में समझाते हुए ईलियट कहते हैं :……"अहिंसा की आकर्षक धारणा, जैसा कि यूरोपवासी कल्पना करते हैं, दादा-दादी को खा जाने के भय पर आधारित नहीं है, बल्कि इस मानवीय एवं बौद्धिक भावना पर आधारित है कि सभी जीवन एक है, और जो व्यक्ति जानवरों को खाते हैं, वे उन जानवरों से श्रेष्ठ नहीं है जो दूसरे जानवरों को खाते हैं।"[7]

अहिंसा के पालन में गृहस्थ को कुछ ढील दी गयी है। परन्तु मुनि को अहिंसा का पालन बड़ी कठोरता से करना होता है। उदाहरणार्थ, वनस्पति में जो एकेन्द्रिय जीव पाये जाते हैं, उन्हें मारने की मुनि को छूट नहीं है। परन्तु एकेन्द्रिय जीव को मारने की गृहस्थ को अनुमति है, क्योंकि यदि वह ऐसे जीवों को नहीं मारता है तो कृषि का नुकसान होगा और परिणामतः समाज को अनाज-जैसी आवश्यक चीज नहीं मिलेगी। इसलिए कहा गया है कि गृहस्थ को केवल दो इन्द्रियों, तीन इन्द्रियों, चार इन्द्रियों तथा पंचेन्द्रियों वाले जीवों के मामले में ही अहिंसा का पालन करना चाहिए। मुनि के लिए जो कठोर नियम हैं उन्हें **महाव्रत** कहते हैं और गृहस्थ के लिए जो सामान्य नियम हैं उन्हें **अणुव्रत** कहते हैं।

जैन बौद्धों की इस बात के लिए बड़ी आलोचना करते थे कि, वे मांस खाने की अनुमति इसलिए देते हैं कि जानवरों की हत्या उन्होंने नहीं बल्कि कसाई ने की है। जैनमत यह है कि यदि मांस खानेवाले ही न हों, तो कसाई पशुहत्या का पापकर्म नहीं करेंगे; इसलिए मांस खानेवाले ही (यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप से) हत्या के लिए जिम्मेवार हैं। जैन उन हिन्दुओं की भी कटु आलोचना करते थे जो धर्म के नाम पर यज्ञ में पशुओं की बलि देते थे।

6. 'प्रवचनसार,' III. 17
7. पूर्वो०, खण्ड प्रथम, पृ० lvi

सत्य

यह दूसरा व्रत सभी लोगों के पालन के लिए है। गृहस्थ के लिए इस व्रत का कठोर पालन आवश्यक नहीं है। इस व्रत के भाव का पालन करना ही बस आवश्यक है।[8] चूंकि अहिंसा ही सबसे महत्त्व का व्रत है, इसलिए शेष सभी व्रतों का पालन इतना ही पर्याप्त है कि अहिंसा का व्रत खण्डित न हो। ऐसी परिस्थिति में जहां सत्य बोलने से हिंसा या हत्या हो सकती है; जैसे, (हत्या करने के लिए पीछे पड़े हुए डाकुओं से बचने के लिए) जब कोई आदमी छिप जाता है तो उसका स्थान न बताने में जो जानबूझकर असत्य बोला जाता है वह नैतिक दृष्टि से उचित है। ऐसी स्थिति में झूठ बोलने से हत्या होने से रुकती है, इसलिए यह उस सचाई से बेहतर है जिससे कि हिंसा या हत्या हो सकती है। इसी प्रकार, कोई जानवर झाड़ी में छिप गया है और शिकारी को इसकी जानकारी नहीं है, तो ऐसी स्थिति में सत्य बात बताने से उस जानवर की हत्या हो सकती है।

अस्तेय

इस व्रत का अर्थ है कि आदमी को केवल अपनी सम्पत्ति भोगनी चाहिए; दूसरे का हथियाने की चाह नहीं रखनी चाहिए। व्यापार और लेन-देन में किये जानेवाले बुरे कर्म, जैसे, माल में मिलावट करना, ग्राहक को उसके पैसों के बदले में पूरा माल न देना, ठीक से माप-तौल न करना तथा काले बाजार में उलझना, ये सब स्तेय यानी चोरी के काम कहलाते हैं। ऐसे बुरे कर्मों से सावधानीपूर्वक बचने से ही अस्तेय व्रत का पालन होता है।

पुनः इस व्रत के पालन के मामले में भी गृहस्थ की अपनी कुछ सीमाएं हैं। इसलिए उससे केवल सापेक्ष पालन की ही आशा की जाती है। गृहस्थ के लिए इस व्रत के पालन का अर्थ है—न दी गयी वस्तुओं को न लेना और दूसरों की गिरी हुई, छूटी हुई या खोयी हुई वस्तुओं को न उठाना। इसी प्रकार गृहस्थ को चाहिए कि वह वस्तुओं को सस्ते दामों पर न खरीदे—यदि सस्ते

8. जैन दार्शनिक इस बात को भलीभांति जानते थे कि अपने दैनिक जीवन में गृहस्थ कटु वचनों का पूर्ण रूप से त्याग नहीं कर सकता, विशेषतः अपने घर में, धंधे में और जीवन की सुरक्षा के मामले में। अतः इन मामलों में अपवाद बनाये गये थे और अन्य मामलों में असत्य से बचने के नियम बनाये गये थे। निषेधार्थक रूप में सत्य का यह भी अर्थ है कि आदमी अतिशयोक्ति न दिखाये और अवगुण खोजने तथा असभ्य बात-चीत में न उलझे। सत्य का स्पष्ट अर्थ है उपयोगी, संतुलित तथा सारगर्भित शब्दों को बोलना।

दाम का कारण यह है कि वह वस्तु अनुचित ढंग से प्राप्त की गयी है। भूमिगत तथा अनधिकृत सम्पत्ति, जो कि राजा की होती है गृहस्थ को नहीं लेनी चाहिए; ऐसी सम्पत्ति की सूचना उसे राजा को तुरंत देनी चाहिए।

ब्रह्मचर्य

तपस्वी के संदर्भ में इस व्रत का अर्थ है संभोग से पूर्णतः विरत रहना। संभोग के कर्म से तो विरत रहने को कहा ही गया है, परन्तु संभोग से संबंधित विचार भी उस कर्म की तरह अवांछनीय तथा अनैतिक माने गये थे। ब्रह्मचर्य के व्रत के लिए भी विचार, वाचा तथा कर्म इन तीनों के सहयोग के सिद्धान्त को आवश्यक समझा गया था।

गृहस्थ के संदर्भ में, जैसा कि स्पष्ट है, इस व्रत का शाब्दिक एवं कठोर रूप में पालन संभव नहीं है। संभोग से विरत रहने का यदि कठोरता से पालन किया जाय तो व्यक्ति के लिए घर-परिवार का कोई अर्थ ही नहीं रह जायगा। जैन दार्शनिक समस्या के इस पहलू से आंखें मूंदे हुए नहीं थे। इसलिए उन्होंने सुझाया कि गृहस्थ द्वारा एक पत्नी व्रत का पालन करने से इस व्रत का पालन हो जाता है। गृहस्थ द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन किये जाने का अर्थ है अपनी पत्नी (या पति) के प्रति पूर्णतः वफादार होना। दूसरी स्त्री (या पुरुष) के बारे में सोचने मात्र से इस व्रत को क्षति पहुंचती है। एकपत्नी या एकपति व्रत संभोग की शुद्धता का द्योतक है; इससे उस व्यक्ति के तथा परिवार के जीवन में सुख व्याप्त रहता है।

अपरिग्रह

स्पष्टतः यह व्रत मुनियों के लिए है, क्योंकि प्रव्रजित होने के पहले उन्हें अपनी सारी सम्पत्ति तथा धन को त्यागना होता है। परन्तु केवल भौतिक त्याग का कोई माने नहीं है। उसे त्यागी हुई वस्तुओं का तनिक भी स्मरण नहीं होना चाहिए। चूंकि उन वस्तुओं के साथ उसका सतत सम्पर्क रहा है, इसलिए पहले की वस्तुओं की यादें उसके दिमाग में मंडराते रहने की काफी संभावना रहती है। अतः तपस्वी को चाहिए कि वह पुरानी त्यागी हुई वस्तुओं का स्मरण न होने दे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होगा कि अपरिग्रह के संदर्भ में यद्यपि मुख्यतः सम्पत्ति एवं धन का उल्लेख किया गया है, लेकिन वस्तुतः इस व्रत को जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण अपनाने तक बढ़ाया जा सकता है। मनुष्य का अपने घर-परिवार तथा सम्बन्धित वस्तुओं के प्रति इतना अधिक मोह बढ़

जाता है कि वह इन सबको अपनी सम्पत्ति समझ बैठता है। परन्तु सच्चे तपस्वी को ऐसा जीवन बिताना चाहिए कि वह सब वस्तुओं को, यहां तक कि अपने शरीर तथा मन को भी, मोक्ष के मार्ग की बाधा समझे।

गृहस्थ के लिए अपरिग्रह व्रत का अर्थ है आवश्यकता से अधिक का संग्रह करने की चाह न रखना। गृहस्थ के संदर्भ में जैन दार्शनिकों ने अपरिग्रह व्रत के बारे में जो ढील दी है उसका कारण यह है कि इस व्रत का कठोर पालन समाज के हित में न होगा। पेशा चाहे कोई भी हो, इस व्रत के पालन का अर्थ होगा अपने कर्तव्य का न केवल कुशलता से, बल्कि ईमानदारी से भी पालन करना। उदाहरण के लिए, व्यापारी के संदर्भ में कुशलता का अर्थ होगा व्यापार के नियमों की जानकारी तथा उनका सही इस्तेमाल, जिससे आर्थिक साधनों में वृद्धि होती है। व्यापारी द्वारा ईमानदारी बरतने का अर्थ है अपने धंधे को व्यक्तिगत सुख तथा समाज-कल्याण का साधन समझना। अपने पेशे में उचित अथवा नैतिक तरीकों को अपनाकर व्यापारी महत्तम लाभ उठाते हुए समाज की सेवा कर सकता है।

व्यापक रूप से जीवन के प्रति त्याग की यह भावना, जिसे अन्ततोगत्वा आदमी को अपनाना होता है, सामान्य जीवन बितानेवाले गृहस्थ द्वारा भी व्यवहार में लायी जा सकती है। अन्त में मनुष्य को अपनी सारी तृष्णाएं त्यागनी होती हैं और अपनी आत्मा को शुद्ध बनाना होता है। इसलिए दैनन्दिन जीवन में अपरिग्रह व्रत का पालन करने का मतलब है अपनी इच्छाओं पर संयम से अंकुश रखना। गृहस्थ द्वारा पालन किये जानेवाले इस व्रत को **परिमित अपरिग्रह** कहते हैं।

इस प्रकार, ये पांच महाव्रत अपनी ही आत्मा की खोज में निकले हुए व्यक्ति के लिए पथप्रदर्शक स्तंभ हैं। इन व्रतों में पाया जानेवाला समग्र रूप इस तथ्य में निहित है कि सभी व्रत अंततोगत्वा अहिंसा के व्रत में ही समा जाते हैं। जैनों का मत है कि इन समग्र व्रतों का पालन करने से परिपूर्ण व्यक्तित्व की प्राप्ति में सहायता मिलती है।

कर्म सिद्धान्त 26

चार्वाकों को छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शन कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। सामान्यत: कर्म सिद्धान्त का उदय मानव जीवन में घटित होनेवाली विविध घटनाओं की व्याख्या करनेवाले कार्य-कारण सम्बन्ध में होता है। विभिन्न विचारधाराओं में कर्म शब्द के किये गये सूक्ष्म अर्थ भिन्न हैं। यहां हमें हिन्दू दर्शन तथा जैन दर्शन की कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी मान्यताओं के बारे में ही विचार करना है। अन्य भारतीय दर्शनों में कर्म को क्रिया के अर्थ में लिया है, यद्यपि इस क्रिया शब्द के भी भिन्न-भिन्न अर्थ किये गये हैं। जैन दार्शनिक कर्म शब्द की सर्वथा भौतिक व्याख्या करते हैं। जैन दार्शनिकों के अनुसार इन्द्रियों द्वारा अगोचर अतिसूक्ष्म परमाणुओं के समूह का नाम कर्म है।

कर्म की भौतिक प्रकृति के समर्थन में जैन दार्शनिकों ने जो तर्क पेश किये हैं, वे बड़े रोचक हैं। माना गया है कि यदि कार्य भौतिक स्वरूप का है, तो कारण भी भौतिक स्वरूप का होना चाहिए। उदाहरणार्थ, जिन परमाणुओं से विश्व की वस्तुएं बनी हैं उन्हें वस्तुओं के 'कारण' माना जा सकता है, और परमाणुओं को भौतिक तत्त्व मान लेने पर वस्तुओं के कारणों को भी भौतिक मानना होगा। जैनों की इस मान्यता के विरुद्ध उठायी जानेवाली पहली आपत्ति यह है कि, सुख, दुःख, प्रमोद तथा पीड़ा-जैसे अनुभव शुद्ध रूप से मानसिक हैं, इसलिए इनके कारण भी मानसिक यानी अभौतिक होने चाहिए। जैनों का उत्तर है कि ये अनुभव शारीरिक कारणों से सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हैं, क्योंकि सुख, दु:ख इत्यादि अनुभव, उदाहरणार्थ, भोजन आदि से सम्बन्धित होते हैं। अभौतिक सत्ता के साथ सुख आदि का कोई अनुभव नहीं होता, जैसे कि आकाश के साथ।[1] अत: यह माना गया है कि इन अनुभवों के पीछे 'प्राकृतिक कारण' हैं, और यही कर्म है। इसी अर्थ में सभी मानवीय अनुभवों के लिए सुखद या दुखद तथा पसंद या नापसंद—कर्म जिम्मेवार हैं।

चूंकि जैनों का द्वैतवाद जीव तथा अजीव सत्ताओं अभौतिक तथा भौतिक या निराकार तथा साकार - को स्वीकार करता है, इसलिए कर्म को

1. 'कर्मग्रन्थ', I. 3

सभी अनुभवों के लिए जिम्मेवार मानने का अर्थ होगा : (1) अनुभव केवल सचेतन जीव के हैं, (2) अनुभव इन दो सत्ताओं के संयोग, संयोजन तथा सम्मिश्रण के कारण हैं, और (3) जब अनुभव नहीं होते तब जीव के लिए कोई सीमा निर्धारित नहीं रहती। जैन दार्शनिकों का तर्क है कि, अपने अनुभवों से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि कर्मद्रव्य शुद्ध आत्मा से मिल गया है और यह जीव की चेतना की शुद्धता निर्धारित करता है। कर्म के दुष्ट प्रभाव के अन्तर्गत आत्मा, जो कि विशुद्ध एवं असीम क्षमताओंवाली होती है, अपने को 'सीमित' अनुभव करती है। आत्मा को कर्म के इस विपरीत प्रभाव से मुक्त करना मोक्ष पाने के लिए अनिवार्य शर्त है, और मोक्षप्राप्ति जीवन का चरमोद्देश्य है।

जीव दो प्रकार के कर्मों से बंधता है—भौतिक तथा मानसिक। पहले प्रकार के कर्म का यह अर्थ है कि द्रव्य का आत्मा में प्रवेश हो गया है और दूसरे प्रकार के अन्तर्गत इच्छा तथा अनिच्छा-जैसी चेतन (मानसिक) क्रियाओं का समावेश होता है। इन दो प्रकार के कर्मों को एक-दूसरे के लिए विशेष रूप से जिम्मेदार माना जाता है।

कहा गया है कि कर्माणु मनुष्यों को विभिन्न कालावधियों के लिए बांधकर रखते हैं। यही कारण है कि अच्छे तथा बुरे दोनों ही प्रकार के अनुभवों की कालावधि न्यूनाधिक होती है। महत्त्व की बात यह है कि कर्माणु जीव को चाहे जितने समय के लिए प्रभावित करते रहें, जैनों की दृढ़ मान्यता है कि जीव अपने को कर्म के बन्धन से मुक्त कर सकता है। इस समय को कर्मों का स्थितिबन्ध कहते हैं।

जीवात्मा को प्रभावित करनेवाले कर्म व्यक्ति के तत्सम्बन्धी भावों तथा कार्यों की तीव्रता पर निर्भर करते हैं। व्यक्ति जितना ही अधिक उलझा होगा, उसकी जितनी ही अधिक आसक्ति होगी, कर्म की बन्धनशक्ति भी उतनी ही अधिक होगी। इसी प्रकार, क्रिया की शक्ति के अनुसार कर्म के प्रभाव से होने वाला अनुभव भी मन्द या तीव्र हो सकता है। कर्म के इस पक्ष को अनुभाग बन्ध कहते हैं।

कर्म की भौतिक धारणा का स्वाभाविक अर्थ यह है कि कर्म की मात्रा जीव को एक नियत समय में प्रभावित करती है। चूंकि कर्माणु जीवात्मा को दूषित करते हैं, इसलिए जैन दार्शनिकों की मान्यता है कि जीवात्मा उन कर्माणुओं को आकर्षित करती है जो इसके निकट रहते हैं। यह आकर्षण स्वयं जीवात्मा की क्रियाशीलता पर निर्भर करता है। जीवात्मा की क्रियाशीलता जितनी ही अधिक होगी, इसके द्वारा आकर्षित कर्म की मात्रा उतनी ही अधिक होगी। उसी प्रकार, जीवात्मा की क्रियाशीलता कम हो तो उसके द्वारा आकर्षित कर्माणुओं

की मात्रा भी कम होगी। इसी स्थिति को ध्यान में रखकर कहा जाता है कि कर्म को त्यागने से मोक्ष प्राप्त करने में सहायता मिलती है। परन्तु चूंकि यह माना जाता है कि विकारों के कारण ही बन्धन है, इसलिए कहा गया है कि यदि बिना विकारों के कर्म किये जायं तो वे व्यक्ति को नहीं बांधते। कर्म सिद्धान्त के इस तीसरे स्वरूप को प्रदेशबन्ध कहा गया है।

कर्म प्रकृति का चौथा स्वरूप यह है कि इसके 8 प्रकार और 158 उप-प्रकार हैं। आठ मुख्य प्रकार ये हैं: ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय। इनमें से पहले चार कर्म जीव के गुणों के विकास में बाधक होते हैं, इसलिए इन्हें घाति कहते हैं; और शेष कम बाधक नहीं होते, इसलिए अघाति कहे गये हैं। अब हम विभिन्न प्रकार के कर्मों के भेदों पर विचार करेंगे।

ज्ञानावरण: चूंकि ज्ञान पांच प्रकार का है, इसलिए ज्ञानावरण कर्म के भी पांच प्रकार हैं। वे मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान का आवरण कहलाते हैं।[2]

दर्शनावरण: इसकी नौ उत्तर-प्रकृतियां हैं। प्रथम चार, चार प्रकार के दर्शन से सम्बन्धित हैं और शेष पांच प्रकार की निद्रा से।[3] प्रथम प्रकार के कर्म से नेत्रेन्द्रिय की दर्शनशक्ति क्षीण होती है, इसलिए इसे चक्षुदर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म से शेष इन्द्रियों की शक्ति मन्द पड़ जाती है। अवधि तथा केवल दर्शनावरणीय कर्मों द्वारा उन-उन दर्शनों के विकास में बाधा उपस्थित होती है। आगे के पांच कर्म हलकी निद्रा, गहरी निद्रा, चलते-फिरते समय की निद्रा, चलते-फिरते समय की गाढ़तर निद्रा तथा निद्राचार हैं और क्रमशः निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला तथा स्त्यानगृद्धि कहलाते हैं।

वेदनीय: इसके दो भेद हैं। जो जीव को सुख का अनुभव कराता है उसे साता वेदनीय कर्म कहते हैं और जो दुःख का अनुभव कराता है उसे असाता वेदनीय कर्म कहते हैं।[4]

मोहनीय: इसके 28 भेद हैं।[5] परन्तु मुख्य भेद दो हैं – दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय, जो क्रमशः दर्शन तथा चारित्र में दूषण उत्पन्न करते हैं। पहले के तीन उपभेद हैं और दूसरे के पच्चीस।

2. वही, I. 4-9
3. वही, I. 10-12
4. वही, 1. 12
5. वही, 1. 14-22

आयु : इसके चार भेद हैं और ये जीव की चार गतियों—देव, नरक, मनुष्य तथा तिर्यंच्—में आयु का निर्धारण करते हैं। इसलिए इन्हें **देवायु, नरकायु, मनुष्यायु** तथा **तिर्यंचायु** कहते हैं।[6]

नाम : इसके 103 भेद हैं। इन्हें अधिकतर निर्धारित क्रम में चार वर्गों में बांटा जाता है। **पिंडप्रकृति** जिसके 75 भेद हैं, **प्रत्येयप्रकृति** जिसके 8 भेद हैं, **त्रस दशक** जिसके दस भेद हैं और **स्थावर दशक** जिसके दस भेद हैं।[7] इन चार वर्गों के कुछ उदाहरण यहां दिये जाते हैं। मजबूत जोड़, शरीर का संतुलन तथा सुगठित चेहरा—ये प्रथम वर्ग के कुछ उदाहरण हैं। श्रेष्ठता की भावना, धर्म-स्थापना की क्षमता, आदि दूसरे वर्ग के कुछ उदाहरण हैं। खूबसूरत शरीर, मधुर वाणी तथा सहानुभूति का भाव—ये सब तीसरे प्रकार के कर्म के कारण हैं। किसी मनुष्य का भद्दा चेहरा, कटु स्वभाव तथा कर्कश वाणी—ये सब चौथे प्रकार के कर्म के कारण हैं।

गोत्र : यह कर्म उस कुल से सम्बन्धित है जिसमें व्यक्ति का जन्म होता है। इसके दो भेद हैं : जिस कुल में लोकपूजित आचरण की परम्परा है उसे **उच्च-गोत्र** कहते हैं, और जिसमें **लोकनिन्दित** आचरण की परम्परा है, उसे नीचगोत्र कहा गया है।[8]

अन्तराय : इसके पांच भेद हैं और ये मनुष्य के स्वकीय पराक्रम के विकास में बाधा उत्पन्न करते हैं। ये पांच भेद हैं **दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय** और **वीर्यान्तराय**। क्रमश: ये दान, लाभ, भोग, भोग की परिस्थिति तथा इच्छाशक्ति के विकास में बाधक होते हैं।[9]

अन्त में यह समझ लेना जरूरी है कि इन विभिन्न कर्मों के लिए व्यक्ति स्वयं जिम्मेदार होता है और ये बाहर से उस पर लादे नहीं जाते। अत: जिम्मेदारी व्यक्ति की ही होती है, इसमें दैव जैसी कोई बात नहीं होती। व्यक्ति के भौतिक जीवन से सम्बन्धित कर्मों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि इनका निर्धारण व्यक्ति के शारीरिक क्रियाकलापों से होता है, तो मानसिक तथा आध्यात्मिक क्रियाकलापों के बारे में यह बात और भी अधिक सही है। जैनों के कर्म सिद्धान्त का यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति ही अपने भाग्य के लिए जिम्मेदार होता है।

6. वही, 1.23
7. ग्लासेन्नप, पूर्वो०, पृ० 11
8. 'कर्मग्रन्थ' I. 52
9. वही

नैतिक तत्त्व

27

यह सर्वविदित है कि हर दर्शन में तत्त्वमीमांसीय तथा नैतिक तत्त्वों का निकट का सम्बन्ध रहता है, विशेषत: 'उच्चतर नैतिकता' को महत्त्व दिये जाने पर। इनके पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए प्राय: 'नीतिशास्त्र के तात्त्विक मूलाधार' शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जैन दर्शन में भी नैतिक तत्त्वों पर स्वतंत्र एवं विस्तृत रूप से विचार किया गया है। जैन दर्शन में नौ नैतिक तत्त्वों को स्वीकार किया गया है : जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

तत्त्वमीमांसीय तथा नैतिक तत्त्वों का निकट का सम्बन्ध सुस्पष्ट है। हम देखते हैं कि ***जीव*** *तथा* ***अजीव*** *तत्त्वों का समावेश दोनों में किया गया है। तत्त्व-मीमांसीय जीव तथा अजीव तत्त्वों पर विचार करते समय हमने देखा कि जैन-मत के अनुसार इन दो तत्त्वों के निकट आकर मिल-जुल जाने से ही संसार यानी जीवन-चक्र का उदय होता है और लगता है कि जीवन-मृत्यु के इस चक्र का कोई अन्त नहीं है। यद्यपि यह बताया गया है कि इन दो नित्य एवं स्वतंत्र तत्त्वों के* निकट आने से चेतना की शुद्धता नष्ट हो जाती है, परन्तु हमने अभी परिवर्तन की उस प्रक्रिया का विवेचन नहीं किया है जिसके अन्तर्गत जीव की स्वतंत्र सत्ता लुप्त हो जाती है। इसी प्रकार, यह भी देखना है कि जीव तथा अजीव के संयोजन से नष्ट हुई चेतना की शुद्धता को किस प्रकार पुन: प्राप्त किया जा सकता है। नैतिक तत्त्वों का विवेचन करते हुए जैन दार्शनिकों ने इन दो बातों पर सुचारु रूप से विचार किया है : स्वतंत्र जीव किस प्रकार बन्धन में फंस जाता है और यह अपनी खोयी हुई स्वतंत्रता किस प्रकार प्राप्त करता है। चूंकि जीव तथा अजीव के बारे में हम पहले विचार कर चुके हैं, इसलिए अब यहां शेष सात तत्त्वों का ही विवेचन करेंगे।

पुण्य और पाप : इन्हें क्रमश: अच्छे तथा बुरे कर्मों का परिणाम माना गया है। जो आदमी दुखी है वह सोचता है कि सुखी आदमी बड़े मजे में है परन्तु कहा गया है कि अन्तत: एक की स्थिति दूसरे से बेहतर नहीं होती, क्योंकि दोनों ही संसार-चक्र में फंसे होते हैं। जैन दार्शनिक इन दोनों आदमियों की परि-

स्थितियों के स्रोत पहले जन्म के—किसी भी पूर्वजन्म के—कर्मों में खोजते हैं।[1]

अतः दुःखी आदमी यदि सुखी जीवन बिताना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह दुराचरण को त्याग दे और सदाचरण का मार्ग अपनाये। यहां यह स्पष्ट है कि व्यक्ति को केवल सदाचरण से ही मुक्ति नहीं मिलती। चूंकि मोक्षप्राप्ति का अर्थ है जीवन और मृत्यु के चक्र से पूर्णतः मुक्ति, इसलिए स्पष्टतः यह पाप और पुण्य से परे है। अर्थात्, मुक्तिप्राप्त मनुष्य भले-बुरे के दायरे के बाहर चला जाता है। चूंकि भले-बुरे आचरण का सम्बन्ध पूर्वकर्मों से होता है और भले या बुरे कार्य को करने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, इसलिए कहा गया है कि ये कर्म जीव को एक प्रकार से बांधते हैं और मुक्ति को सीमित बनाते हैं।

अच्छे कर्म के उदाहरण हैं: सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति, मुनियों के प्रति श्रद्धाभाव और व्रतों का पालन। परिणामतः व्यक्ति को **साता वेदनीय** यानी सुखानुभव, शुभ आयु, शुभ नाम तथा गोत्र की प्राप्ति होती है।[2] बुरे कर्म हैं: मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान, हिंसा वृत्ति, झूठ बोलना, भोगवृत्ति तथा आसक्ति; संक्षेप में वे कर्म जिनका उदय पंचव्रतों का पालन न करने से होता है। इनसे व्यक्ति को **असाता वेदनीय** यानी दुःखानुभव, अशुभ आयु, अशुभ नाम तथा अशुभ गोत्र की प्राप्ति होती है।[3]

इसलिए जैन दार्शनिकों का मत है कि सदाचारी जीवन दुराचारी जीवन से बेहतर है; परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि सुखी तथा स्वस्थ जीवन और दीर्घायु आदि मिलने से परिपूर्णता को प्राप्त करने में सुविधा होती है, यानी जीव को अजीव के दूषण से मुक्त करने की समस्या के हल की संभावना बढ़ जाती है। यहां व्यक्ति अपनी दृष्टि से कह सकता है कि अनुकूल परिस्थितियों में मुक्ति की प्राप्ति पर अधिकाधिक ध्यान दिया जा सकता है। परन्तु जैन मतानुसार मनुष्य का ध्येय मात्र मुक्ति न होकर जीव की मुक्ति है।

अतः चरम लक्ष्य है—जीव को अजीव से मुक्त करना। केवल सुखभोग की सुविधा होने से यह संभव नहीं है—फिर यह सुखभोग दुःखभोगियों के लिए भले ही माने रखता हो। इसलिए स्पष्ट उपदेश यह है कि, चूंकि अच्छे और बुरे दोनों ही प्रकार के कर्मों का मूल कारण आसक्ति है और दोनों ही प्रकार के कर्म व्यक्ति को बांधे रखते हैं, यानी फलप्राप्ति के लिए उसे अनगिनत जन्म लेने पड़ते हैं, इसलिए मोक्षप्राप्ति की चाह रखने वाले व्यक्ति का ध्येय अनासक्ति को बढ़ाना होना चाहिए। ऐसा करने से ही व्यक्ति मुक्तिपथ पर आगे बढ़ता है। इस जैन-

1. इसका विवेचन अठारहवें प्रकरण में किया जा चुका है।
2. 'तत्त्वार्थसूत्र', VIII. 25
3. वही, VIII. 26

मत की तरह अन्य भारतीय दर्शनों का भी यही कथन है कि संसार के पापों से बचने के लिए अच्छे-बुरे दोनों के ही प्रति अनासक्ति होना जरूरी है।

आस्रव और बन्ध : आगे के पांच तत्त्वों का विवेचन न केवल महत्त्व का है, बल्कि रोचक भी है, क्योंकि इसमें कर्म के दुष्परिणामों से मुक्ति पाने के मार्ग पर आगे बढ़ने के जैन दार्शनिकों के विचार बड़े सुस्पष्ट हैं। यहां यह जानकारी असंगत न होगी कि जीव के बन्धन की प्रक्रिया तथा मोक्षप्राप्ति के उपाय के बारे में जो जैन विचार हैं वे काफी हद तक शरीर के रोगग्रस्त होने तथा उससे मुक्ति पाने के लिए चिकित्साशास्त्र में बताये गये उपायों-जैसे हैं।

मानव शरीर अपनी प्राकृतिक स्थिति में विभिन्न व्याधियों को रोकने की क्षमता रखता है। परन्तु अनेक कारणों से शरीर यह अवरोधक शक्ति खो बैठता है। इससे विभिन्न प्रकार के कीटाणुओं को शरीर में पहुंचने में और नुकसान पहुंचाने में आसानी होती है। निरोग होने का उपाय यह है कि शरीर में अवरोधक शक्ति पैदा हो, रोगोत्पादक कीटाणुओं का शरीर में पहुंचना बन्द हो और उन कीटाणुओं का पूर्णत: नाश हो जो शरीर में प्रवेश पा चुके हैं। जीव के बन्धन की प्रक्रिया तथा मुक्ति के उपाय भी कुछ इसी प्रकार के हैं।

जीव, जो कि अपनी प्राकृतिक अवस्था में परिशुद्ध होता है, आसक्ति, द्वेष आदि की अपनी मनोदशाओं के कारण कर्माणुओं से दूषित हो जाता है। वस्तुत: कर्माणुओं द्वारा प्रभावित होने के पहले ही जीवात्मा में बदल होता है। इसे हम यूं कह सकते हैं कि आत्मा कर्म के दूषण को रोकने की शक्ति खो बैठी है और अब बुरे प्रभावों से अपनी रक्षा करने में वह समर्थ नहीं है। दूसरी अवस्था द्रव्यास्रव और प्रथम को भावास्रव कहा गया है। चूंकि आत्मा में रद्दोबदल पहले होती है और इससे उसके दूषण के लिए रास्ता खुल जाता है, इसलिए बन्धन का मूल कारण भावास्रव ही माना गया है, न कि द्रव्यास्रव। अशुद्ध मनोदशा की उत्पत्ति अश्रद्धा, अनियमन और क्रोध, मान, लोभ आदि मनोविकारों के कारण होती है। इससे आत्मा की ओर कर्माणुओं के बहाव को प्रोत्साहन मिलता है और दूषण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। इन दो प्रकार के आस्रवों के स्थान पर हमें कुछ भिन्न प्रकार के मत की भी जानकारी मिलती है। हम देखते हैं कि इन दो प्रकार के आस्रवों के स्थान पर केवल एक ही आस्रव तत्त्व को स्वीकार किया गया है। काय, वाक् और मन की क्रियाओं को आस्रव कहा गया है।[4] यहां यद्यपि मन और काय को एक साथ रखा गया है, फिर भी स्पष्ट है कि कर्म के प्रवाह से सम्बन्धित मान्यता वही है। काय, वाक् तथा मन की क्रियाओं से आत्मा में जो परिस्पंदन होता है, उसे योग कहा गया है। और इसे ही आस्रवों का समग्र

4. वही, VI. 1-2

कारण माना गया है, क्योंकि इसके अन्तर्गत अनुभवजन्य आत्माओं तथा अर्हन्तों, दोनों का ही समावेश होता है।[5] सिद्ध इस सीमा के परे पहुंच जाते हैं, क्योंकि वे काय, वाक् तथा मन की क्रियाओं से मुक्त रहते हैं।

बन्ध भी योग के कारण हैं, परन्तु केवल योग के कारण नहीं। योग के अलावा कषायों के अनिष्ट परिणाम भी बन्ध के कारण हैं। कषाय के सहयोग से योग अधिक कर्माणुओं को आकर्षित करता है और ये कर्माणु जीव को बांधते हैं।

बन्ध की भी दो अवस्थाएं हैं : **भावबन्ध** अवस्था और **द्रव्यबन्ध** अवस्था। क्रोध और मान-जैसे कषाय चेतना को आलोडित करते हैं और इससे कर्म एक खास बन्ध को जन्म देता है, जिसे भावबन्ध कहा गया है।[6] इसके बाद कर्माणु जीव के वास्तविक सम्पर्क में आते है और इससे द्रव्यबन्ध की अवस्था पैदा होती है।

बन्ध के चार प्रकार बताये गये हैं : प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध। इनमें से पहले का जन्म तब होता है जब जीव की स्पन्दन क्रिया से द्रव्य कर्माणुओं में रूपान्तरित होता है। इसके आठ प्रमुख भेद हैं, और इनकी चर्चा हम पहले कर चुके है। तार्किक दृष्टि से दूसरा बन्ध प्रदेशबन्ध है। जीव का एक बार विभिन्न प्रकार के कर्माणुओं के प्रति लगाव पैदा हो जाता है तो ये कर्माणु आत्मा के विभिन्न प्रदेशों में स्थान ग्रहण कर लेते हैं, और इस प्रकार कर्मबन्ध से मुक्त होना आत्मा के लिए लगभग असंभव हो जाता है। यह और पहले प्रकार का बन्ध योग के कारण है।[7] तीसरे प्रकार को स्थितिबन्ध कहते हैं। इसके अन्तर्गत कर्माणुओं का लगातार प्रवेश होता है और दूषण एक निश्चित अवधि के बाद होता है। कर्माणुओं के निरंतर बहाव के कारण उनमें फलित होने की क्षमता पैदा हो जाती है और इससे ही जीव को विभिन्न प्रकार के अनुभव होते हैं। विविध कालावधियों से जन्य विभिन्न क्षमताओं से ही अनुभवों में तीव्रता एवं मन्दता जन्म लेती है। इसी को **अनुभागबन्ध** कहते हैं। तीसरे तथा चौथे प्रकार के बन्धों का जन्म कषायों से होता है।[8]

संवरः जीव के दूषण को दूर करने के लिए कर्माणुओं के बहाव बदलने की जो प्रक्रिया है, उसका नाम संवर है।[9] आस्रव की तरह संवर के भी दो प्रकार हैं :

5. के० सी० सोगानी, पूर्वो०, पृ० 47
6. 'तत्त्वार्थ-सूत्र', VIII. 2-3
7. 'सर्वार्थसिद्धि', VIII. 3
8. वही
9. 'तत्त्वार्थसूत्र', IX. 1

भावसंवर और द्रव्यसंवर। सर्वप्रथम कर्मास्रव की ग्रहणशीलता को रोका जाता है। इसे भावसंवर कहते हैं। कर्मास्रव का जो मूल कारण है, वही नहीं रहेगा तो कर्मास्रव भी नहीं होगा। कर्मास्रव के रुक जाने की इस स्थिति को द्रव्यसंवर कहते हैं।

संवर के लिए सम्यक् ज्ञान अत्यावश्यक है। यहां सम्यक् ज्ञान का अर्थ ऐसे ज्ञान से है जिससे जीव और अजीव की प्रकृतियां स्पष्ट हो जाती हैं। जब तक सम्यक् ज्ञान का उदय नहीं होता, तब तक जीव की शुद्ध चेतना की अन्तरस्थ प्रकृति को पहचानना संभव नहीं है। जीव के साथ जुड़े हुए विभिन्न कषाय तथा मोह वस्तुत: इसके आभ्यन्तर गुण नहीं हैं। यद्यपि हम इन्हें आत्मा की प्रकृति के आवश्यक अंग मानते हैं, ये वस्तुत: आकस्मिक ही होते हैं। इसलिए आत्मा को किसी प्रकार की क्षति पहुंचाये बिना इनको हटाया जा सकता है। इसी प्रकार, आत्मा के साथ जुड़े हुए और भी कई प्रकार के कर्म हैं जो आत्मा की प्रकृति को समझने के लिए उतने महत्त्व के नहीं हैं जितना कि उन्हें समझा जाता है। संक्षेप में, सम्यक् ज्ञान न होने से चीजों (जीव और अजीव) के विभेद को हम स्पष्ट रूप से नहीं देख पाते। इस विभेद का जैसे ही ज्ञान होता है, मोह में फंसी हुई आत्मा मुक्त हो जाती है, और यह अपनी प्रकृति को ठीक से पहचानने लगती है। इस 'आत्मबोध' के परिणामस्वरूप अज्ञान से जनित विभिन्न मनोदशाएं क्षीण हो जाती हैं। यही भावसंवर है, और यह द्रव्यसंवर के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। मनोदशाओं के अभाव के कारण कर्मास्रव पूर्णत: रुक जाता है।

द्रव्यसंग्रह में सात प्रकार के संवर बतलाये गये हैं: व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र। **तत्त्वार्थसूत्र** में व्रत के स्थान पर तप को रखा गया है।[10]

निर्जरा : कर्म के क्षय की दो अवस्थाएं मानी गयी हैं। प्रथम अवस्था में आत्मा में रद्दोबदल होने से कर्मास्रव आंशिक रूप से रुक जाता है। यह **भावनिर्जरा** है। कर्मास्रव के पूर्ण रूप से रुक जाने की आगे की अवस्था **द्रव्यनिर्जरा** है।

तत्त्वत: इस स्थिति में आत्मा सम्यक् ज्ञानमय रहती है, इसलिए (कर्म के उपभोग के कारण) उसके अनुभव भले ही पूर्व-सम्यग्ज्ञान की अवस्था के रहें, परन्तु इन अनुभवों के प्रति जो रुख है, उसमें हम स्पष्ट परिवर्तन देखते हैं। इस भाव-परिवर्तन से कर्म का क्षय करने में आसानी होती है।

10. वही, IX. 3

जिस व्यक्ति को सम्यक् ज्ञान नहीं है उसमें विभिन्न प्रकार के कर्म विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाओं को जन्म देते हैं (ये उसे होनेवाले विभिन्न प्रकार के अनुभवों के अतिरिक्त होती हैं)। ये प्रतिक्रियाएं सुखदायी अनुभवों के प्रति स्पष्ट लगाव तथा दु:खदायी अनुभवों के प्रति विपरीत भाव अपनाने से पैदा होती हैं। न जानते हुए कि उसके विविध अनुभव आसक्ति तथा द्वेष से भरे पूर्व-कर्मों के कारण हैं, वह उनमें डूब जाता है और बहने लगता है, और इस प्रकार जन्म-मृत्यु के दुष्ट चक्र में अधिकाधिक उलझ जाता है। परन्तु सम्यक् ज्ञान वाला व्यक्ति जानता है कि उसके विविध अनुभव वस्तुत: आत्मान्तर्गत नहीं होते इसलिए वह इनके प्रति अनासक्ति का भाव रखता है। इसीलिए सुख या दु:ख से वह प्रभावित नहीं होता। बाह्य-जगत के प्रति ऐसे भाव को अपनाकर वह कर्मों को फलित होने देता है, यानी वह संग्रहीत कर्मों को क्षीण होने देता है। इस प्रकार, अपने अच्छे और बुरे कर्मों को भोगते हुए, परन्तु उनसे किसी प्रकार प्रभावित हुए बिना, वह अपने संग्रहीत कर्मों को समाप्त कर देता है। यह भी मत देखने को मिलता है कि कर्मों के वस्तुत: फलित होने के पहले ही तपस्या से कर्मों को नष्ट करके प्रभावहीन बनाया जा सकता है।

यहां यह कहा जा सकता है कि जैनों के कर्म सिद्धांत का यह स्वरूप ठीक उस हिन्दू सिद्धांत के समान है जिसके अनुसार ज्ञानप्राप्ति से संचित कर्म को प्रभावहीन बनाया जा सकता है। हिन्दू परम्परा में भी आत्मज्ञान की खोज में निकले हुए व्यक्ति को सुझाया गया है कि वह प्रारब्ध कर्म के प्रति अनासक्ति के भाव को बढ़ावा दे, ताकि वह कर्मचक्र में आगे अधिक न उलझ सके।

मोक्ष : चूंकि हम कर्म सिद्धान्त तथा आठ नैतिक तत्त्वों का विवेचन कर चुके हैं, इसलिए मोक्ष के बारे में बताने के लिए बहुत थोड़ा रह जाता है। मोक्ष का अर्थ है मुक्ति, यानी जीव की अजीव से मुक्ति। जीव के अजीव से मुक्त होने के मार्ग का विवेचन किया जा चुका है, इसलिए यहां अब जैन नीतिशास्त्र के **त्रिरत्न** के बारे में ही कुछ बताना बाकी रह जाता है। ये त्रिरत्न हैं : **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान** और **सम्यग्चारित्र**। त्रिरत्न की इस धारणा में जैन मोक्ष सिद्धांत का सारतत्त्व निहित है।

सम्यग्दर्शन को मोक्ष का प्राथमिक कारण माना गया है, क्योंकि इसीसे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र का मार्ग प्रशस्त होता है। **यशस्तिलक** में कहा गया है : "जिस प्रकार नींव प्रासाद का मूलाधार है, और सुयश सुंदरता पर, जीवन सुख-भोग पर, राजशक्ति विजय पर, संस्कृति श्रेष्ठता पर और शासन राजनीति पर आधारित है, उसी प्रकार यह (सम्यग्दर्शन) मोक्ष का प्राथमिक कारण है।[11] **उत्तराध्ययन-सूत्र** में कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि के अभाव में

11. के० सी० सोगानी द्वारा उद्धृत, पूर्वो०, पृ० 60-61

सम्यग्ज्ञान असंभव नहीं और सम्यग्ज्ञान के अभाव में सम्यग्चारित्र संभव नहीं।[12] कहा गया है कि सात तत्त्वों—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष में श्रद्धा रखना ही सम्यग्दर्शन है।[13] जैनमत है कि इन सात तत्त्वों में श्रद्धा रखनेवाले (सम्यक् दृष्टि वाले) व्यक्ति को सम्यग्ज्ञान होता है—सम्यक् ज्ञान आध्यात्मिक अर्थ में, और न कि केवल इसके ज्ञानमीमांसीय अर्थ में। सम्यग्ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान के रूप में, व्यक्ति को जीव की अन्तः प्रकृति को समझने में सहायता करता है, और इससे उसे मोक्षप्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए सही कदम उठाने में सुविधा होती है। यही सम्यग्चारित्र है। जैन दार्शनिकों ने मोक्षप्राप्ति के लिए नैतिक-आध्यात्मिक नियमों का समग्र निरूपण किया है, यह त्रिरत्न की धारणा से स्पष्ट है। वस्तुतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र में से किसी भी एक की अलग से सार्थक उपलब्धि संभव नहीं है, क्योंकि जीवन में आध्यात्म की प्राप्ति शुद्ध सैद्धांतिक अमूर्तता नहीं है, और न यह ऐसी सरल चीज है कि जिसका केवल अनुसरण किया जाय। इसलिए दृष्टि, ज्ञान तथा चारित्र - इन तीनों को मोक्ष के लिए महत्त्व का माना गया है। जैनों ने इस बात पर बल दिया है कि सम्यग्दृष्टि के अभाव में शेष दो निष्क्रिय रह जाते हैं। यह बात समझने योग्य है, क्योंकि आधुनिक मनोविज्ञान में भी माना गया है कि 'श्रद्धा' में स्वास्थ्यलाभ की कुंजी निहित है। शारीरिक तथा मानसिक व्याधियों के बारे में यह सिद्धांत सत्य है, तो इस जैनमत को कि आध्यात्मिक 'स्वास्थ्यलाभ' भी सुझाये गये उपायों में बुनियादी श्रद्धा होने से ही संभव है, हम सिर्फ एक सैद्धान्तिक अमूर्तता या आत्मज्ञान की खोज में निकले हुए लोगों को दिया जानेवाला रूढ़िगत उपदेश नहीं मान सकते।

12. 28-30
13. 'तत्त्वार्थसूत्र', I. 2; 'द्रव्यसंग्रह' 41

षड्स्तरीय संघ-व्यवस्था 28

जैन मतानुसार जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयास संन्यास ग्रहण कर लेने तक ही सीमित नहीं रहने चाहिए। जैनमत है कि परित्याग केवल शारीरिक नहीं, बल्कि मुख्यतः मानसिक होता है। इसलिए अन्ततः आध्यात्मिक जीवन में पहुंचने की तैयारी काफी पहले से शुरू होती है। इसके लिए दो प्रकार के धर्म निश्चित किये गये हैं—**श्रावकधर्म** और **मुनिधर्म**। हम पहले बता चुके हैं कि विभिन्न व्रतों के पालन में श्रावक को काफी छूट दी जाती है। परन्तु मुनि को सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह, इन पांच महाव्रतों का कड़ाई से पालन करना होता है। इसमें कोई छूट नहीं दी जाती।

शरीर, मन तथा वाणी पर पूर्ण नियंत्रण पाना मुनि का लक्ष्य होना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार स्वयं को परिशुद्ध रखकर ही वह पंचमहाव्रतों का विधिवत् पालन कर सकता है। मन-वचन-काय पर इस प्रकार नियंत्रण प्राप्त करने के प्रयास को **गुप्ति** कहा गया है। **सर्वार्थसिद्धि** के अनुसार गुप्ति वह परम साधना है जिससे जीव जीवन-मृत्यु के चक्र को पार कर जाता है।[1] इस साधना में शारीरिक क्रियाओं पर विशेष ध्यान देना जरूरी होता है। चलना, बोलना, मल-मूत्रादि त्याग, चीजों का सावधानी से इस्तेमाल तथा शारीरिक आवश्यकताओं के बारे में संयम बरतना जरूरी होता है। इन्हें ही **ईर्या समिति, भाषा समिति, उत्सर्ग समिति, आदाननिक्षेप समिति** तथा **एषणा समिति** कहते हैं।[2] इन समितियों के नियमों को इसलिए आवश्यक माना गया है कि, जब तक शरीर पर नियंत्रण नहीं होता, तब तक मन के नियंत्रण के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता। यहां हम इन नियमों की गहराई में नहीं उतरेंगे। यहां हम यही बताना चाहते हैं कि मुनि की आस्था श्रावक से काफी आगे होती है।

आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से तपस्या-क्रम की पांच और श्रेणियां मानी गयी हैं। ये श्रेणियां हैं : **आचार्य उपाध्याय, साधु, अरहन्त** और **सिद्ध**। मुनि अवस्था को मिलाकर ये सब षड्स्तरीय संघ-व्यवस्था कहलाती हैं। यहां हम

---

1. 'सर्वार्थसिद्धि,' IX. 2
2. 'तत्त्वार्थसूत्र,' IX. 5

मुनि अवस्था से 'अधिक विकसित' इन पांच अवस्थाओं पर संक्षेप में विचार करेंगे।

आचार्य : आचार्य आध्यात्मिक गुरु होता है। वह लोगों को धर्मदीक्षा देने का अधिकार रखता है। इस संदर्भ में जैन धर्म की मान्यता हिन्दू धर्म की तरह ही है, कि दीक्षा के लिए आचार्य या गुरु की आवश्यकता होती है। आचार्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने शिष्यों के नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन का मार्गदर्शन करें। भिक्षुसंघ का संचालन करना भी उसकी जिम्मेदारी होती है। पथभ्रष्ट शिष्यों को मार्ग पर लाना उसका ही काम है। उसे जैन धर्मग्रन्थों का तथा अन्य विद्यमान धर्मों के ग्रन्थों का अच्छा ज्ञान होना जरूरी है। यह आवश्यकता सचमुच ही बड़े महत्त्व की है। मताग्रही न होकर दूसरे विद्यमान धर्मों के सत्यों के प्रकाश में अपने धर्म के सिद्धांतों का वह अनुशीलन करता है।

उपाध्याय : इसे धार्मिक उपदेश देने का अधिकार होता है। इसलिए उपाध्याय को विभिन्न धर्मग्रन्थों का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। उपाध्याय धर्मोपदेश तो देता है, परन्तु पथभ्रष्ट लोगों को मार्ग पर लाना उसका काम नहीं है। यह अधिकार आचार्य को दिया गया है, क्योंकि आचार्य को आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक उन्नत माना जाता है। उपाध्याय इतना उन्नत नहीं होता कि लोगों को सही मार्ग पर लाने का कार्य कर सके। संभवत: लगातार धर्मोपदेश देते रहने से वह धार्मिक सिद्धांतों की अधिकाधिक गहराई में उतरता जाता है, और इस प्रकार अन्त में दूसरों को मार्ग पर लाने का अधिकारी बन जाता है।

साधु : आध्यात्मप्राप्ति के लिए निर्धारित विविध नियमों का साधु बड़ी कड़ाई से पालन करता है। उपाध्याय की तुलना में वह अधिक अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का होता है। उसे धर्मोपदेश देना नहीं होता। सर्वप्रथम अपने व्यक्तिगत जीवन में ही विभिन्न व्रतों का पालन करने का अर्थ यह है कि दूसरों को उपदेश देने योग्य बनने के लिए पहले नैतिक नियमों के निर्धारित क्रम से गुजरना अत्यावश्यक है। नैतिक नियमों का निरंतर पालन करने से आदमी आध्यात्मिक जीवन की वास्तविक गहराई में उतरता है, और धर्मोपदेश के लिए यह आवश्यक है। इस प्रकार लोगों को धर्मोपदेश देने का काम शुरू करने के पहले इनमें उसकी गहन आस्था हो जाती है, और साधु का सतत व्रतपालन इसमें सहायक सिद्ध होता है।

अरहन्त : पहले की अवस्थाओं से अरहन्त की अवस्था इस माने में विशेष रूप से उच्च है कि उसमें क्रोध, मान, छल, लोभ, आसक्ति, घृणा तथा अज्ञान का लेशमात्र भी शेष नहीं रह जाता। इसलिए इस अवस्था में अहिंसा के पालन को अधिक परिशुद्ध बनाया गया है। अरहन्त का आध्यात्मिक तेज इतना तीव्र

एवं शुद्ध होता है कि यह चारों ओर उत्सर्जित होता रहता है। अरहन्त की महज उपस्थिति में इतनी क्षमता मानी गयी है कि उससे सैकड़ों लोग आध्यात्मपथ पर चलने लग जाते हैं और जीवन के प्रति जो संशयी एवं विकृत भाव होते हैं वे नष्ट हो जाते हैं। इसलिए कहते हैं कि अर्हत् की उपस्थिति से ही परमज्ञान की प्राप्ति होती है।

अर्हतों के सात प्रकार हैं : पंचकल्याणधारी, तीनकल्याणधारी, दो कल्याण-धारी, सामान्यकेवली, सातिशयकेवली, उपसर्गकेवली और अन्तकृत्केवली। आध्यात्मिक स्तर की दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं है। यहां ध्यान देने योग्य महत्त्व का भेद यही है कि प्रथम तीन को और शेष को दो वर्गों में बांटा गया है। प्रथम तीन प्रकार के अर्हत् तीर्थंकर होते हैं, और शेष प्रकार के अर्हत् तीर्थंकर नहीं होते। इन दोनों में भेद यह है कि जहां प्रथम वर्ग के अर्हत् संसार की माया में फंसे हुए लोगों के उद्धार के लिए धार्मिक सिद्धांतों का उपदेश (इन उपदेशों को गणधर व्यवस्थित रूप से लिखकर रखते हैं) देने में समर्थ होते हैं, वहां दूसरे वर्ग के अर्हत् धर्म-प्रतिपादक न होकर आध्यात्मिक परमानन्द में लीन रहते हैं।[3] यह मान्यता सर्वविदित है कि प्रत्येक युग में केवल चौबीस तीर्थंकर होते हैं। परन्तु आध्यात्मपथ के खोजकर्ता के लिए यह हताश होने की बात नहीं है, क्योंकि कहा गया है कि आगे के उच्च सिद्ध पद की प्राप्ति जो तीर्थंकर नहीं उसके लिए भी संभव है।

अर्हत् को आदर्श संत और परमगुरु माना जाता है। उसे परमात्मन् भी कहते हैं। परमात्मा या ईश्वरतत्त्व के बारे में जैन धर्म की जैसी विशिष्ट मान्यता है, उसके अनुसार अर्हतों के बारे में यह स्वाभाविक है कि वे अपने भक्तों के प्रति पक्षपात का भाव नहीं रख सकते। उपाध्ये लिखते हैं : "संसार की सृष्टि, संचालन एवं विनाश अर्हत् या सिद्ध का कार्य नहीं है। इनसे भक्तों को वर, अनुग्रह या शाप नही मिलता। भक्तजन इनकी आराधना या पूजा-अर्चना एक ऐसे आदर्श के रूप में करते हैं जहां वे स्वयं पहुंच सकें।"[4] इसलिए अर्हत् की पूजा को इस अर्थ में महत्त्व दिया गया है कि इससे भक्तों के मन में यह आशा बंध जाती है कि आध्यात्मिक उन्नति उनके लिए भी संभव है।

जैसा कि सोगानी ने लिखा है, अर्हत् की अवस्था का पूर्ण वर्णन शब्दों में संभव नहीं है। अर्हत् के तेज को बौद्धिक या नैतिक शब्दों में पूर्ण रूप से समझ पाना संभव नहीं है। यद्यपि कभी-कभी शुद्ध निषेधात्मक वर्णन के प्रयत्न किये जाते हैं, परन्तु वे सब उन्हीं कुछ साक्षात् अनुभूतियों की ओर निर्देश करते हैं

3. के० सी० सोगानी, पूर्वो०, पृ० 199
4. के० सी० सोगानी द्वारा उद्धृत; पूर्वो०, पृ० 199

जो केवल शुद्ध ध्यान या समाधि से संभव है।[5]

सिद्ध : यह अनुभूतियों के परे का स्तर है। सिद्ध कार्य-कारण के स्तर से ऊपर उठ जाता है, कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। सिद्ध के बारे में कहा गया है कि वह न किसी से निर्मित होता है और न किसी का निर्माण करता है।[6] चूंकि सिद्ध कर्मों के बन्धन से मुक्त होता है, इसलिए वह बाह्य वस्तुओं से भी पूर्णतः मुक्त हो जाता है। इसलिए उसे न सुख का अनुभव होता है, न दुःख का। सिद्ध अनन्त परमसुख में लीन रहता है।

सिद्धपद की प्राप्ति निर्वाण की प्राप्ति के समान है।[7] और निर्वाण की स्थिति में, निषेधात्मक रूप में कहें तो, न कोई पीड़ा होती है, न सुख, न कोई कर्म, न शुभ-अशुभ ध्यान, न क्लेश, बाधा, मृत्यु, जन्म, अनुभूति, आपत्ति, भ्रम, आश्चर्य, नींद, इच्छा, तथा क्षुधा। स्पष्ट शब्दों में कहें तो इस अवस्था में पूर्ण अन्तःस्फूर्ति, ज्ञान, परमसुख, शक्ति, द्रव्यहीनता तथा सत्ता होती है।[8] आचारांग में सिद्ध स्थिति का वर्णन इस प्रकार है : "जहां कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं, वहां से सभी आवाजें लौट आती हैं; वहां दिमाग भी नहीं पहुंच सकता। सिद्ध बिना शरीर, बिना पुनर्जन्म तथा द्रव्य-सम्पर्क से रहित होता है। वह न स्त्रीलिंगी होता है, न पुंल्लिगी और न ही नपुंसकलिंगी। वह देखता है, जानता है, परन्तु यह सब अतुलनीय है। सिद्ध की सत्ता निराकार होती है। वह निराबद्ध होता है।"[9]

निर्वाण पद की प्राप्ति के साथ अजीव के दुष्ट प्रभावों से अपने को मुक्त हुए देखने की जीव की अभिलाषा पूर्ण हो जाती है। यह विश्व के शिखर पर पहुंच जाता है और फिर वहां से इसका पतन नहीं होता। एक जीव द्वारा प्राप्त अवस्था के एक देदीप्यमान उदाहरण की तरह यह अन्य जीवों के लिए आदर्श बनकर चमकता है। इस प्रकार षड्स्तरीय संघ-व्यवस्था का यह वर्णन, धार्मिक दृष्टि से, जीव के विभिन्न स्तरों के विकास का वर्णन है।

5. देखिये, के० सी० सोगानी, वही, पृ० 203
6. 'पंचास्तिकाय', 36
7. 'नियमसार', 183
8. वही, 178-181
9. I. 5. 6. 3. 4

गुणस्थान सिद्धान्त 29

जैन दार्शनिकों ने उन विविध आध्यात्मिक दशाओं का विश्लेषण किया है, जिनमें से गुजरकर जीव मोक्षप्राप्ति करता है। ऐसी चौदह अवस्थाएं बतायी गयी हैं, जिनमें से गुजरने के बाद जीव—आत्मा या चेतना शुद्ध हो जाता है। इन अवस्थाओं को **गुणस्थान** कहा गया है। कभी-कभी इस गुणस्थान शब्द का प्रयोग उन स्तरों के अर्थ में भी होता है जिनमें से होते हुए जीव जीवन की सीढ़ी पर चढ़कर मुक्ति के शिखर पर पहुंच जाता है। गुणस्थान शब्द को नैतिक या धार्मिक चारित्र-निर्माण के सीमित अर्थ में न लेकर जीवन में आध्यात्म प्राप्ति के चरमोद्देश्य के गहन अर्थ में लेना चाहिए।

रत्नत्रय के सिद्धान्त के अनुसार, अन्ततोगत्वा मोक्षप्राप्ति का अर्थ है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र की उपलब्धि। प्रत्येक जीव में इन त्रिरत्न की प्राप्ति की क्षमता विद्यमान होती है, परन्तु यह क्षमता क्रमशः ही फलित होती है। महत्त्व की बात यह है कि यह क्षमता **व्यक्ति के अपने प्रयास** से ही फलित होती है। यहां हम मोक्षप्राप्ति के मार्ग के विभिन्न पड़ावों का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

अवस्था 1 : मिथ्यादृष्टि गुणस्थान : एक अर्थ में मोक्षप्राप्ति के मार्ग की यह वस्तुतः कोई अवस्था नहीं है। यह सीढ़ी का सबसे नीचे का पैर है। इस अवस्था में जीव आध्यात्मिक दृष्टि से अंधा होता है। व्यक्ति को सत्य तथा साधुता की पहचान नहीं होती। यह अवस्था इस माने में अन्धविश्वासपूर्ण होती है कि इसमें व्यक्ति किसी भी कोरे आकर्षक विचार को सत्य मान बैठता है। आदमी मिथ्याज्ञान में विश्वास करता है और दर्शनावरण कर्म के कारण सत्य को अस्वीकार करता है तथा असत्य को गले लगाता है। संक्षेप में, यह मिथ्यात्व की अवस्था है।

अवस्था 2 : सासादन-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान : यह जीव द्वारा अत्यल्प सम्यग्दृष्टि प्राप्त कर लेने के बाद की अवस्था है। सामान्यतः इस अवस्था को प्रथम स्तर से विकसित हुई अवस्था न मानकर एक ऐसी अवस्था माना जाता है जिसमें उच्च अवस्था से जीव का पतन होता है। यह उन जीवों के लिए एक प्रकार की रुकावट की अवस्था है जो उच्च स्तर से, विशेषतः सम्यक्त्व के स्तर

से, कषायोदय के कारण नीचे गिरते हैं।

यहां यह बताना जरूरी है कि हिन्दू दार्शनिकों की तरह जैन दार्शनिकों की भी मान्यता थी कि व्यक्ति को गुरु ही मुक्तिपथ में दीक्षित करता है। परन्तु जैन दार्शनिकों के मतानुसार, व्यक्ति को कभी-कभी अचानक सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो जाती है। इसका कारण यह बताया गया है कि, पूर्वजन्म में दीक्षित हुआ व्यक्ति तब धर्म का पालन न करके सब कुछ भूल जाता है, और फिर बाद के जन्म में उसकी स्मृति जागृत होती है।

जैन दार्शनिकों ने यह स्पष्ट किया है कि कषायों के कारण आदमी मुक्ति-पथ की सीढ़ी से नीचे गिर सकता है। यदि वह पहली अवस्था पर आ गिरता है, तो उसे मुक्तिपथ पर नये सिरे से चलना पड़ता है।

अवस्था 3 : मिश्र गुणस्थान : यह व्यक्ति के मिश्र भावों वाला स्तर है। इसमें आदमी सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व के बीच में आंदोलित होता रहता है। मन सतत उद्विग्न रहता है, और सम्यग्दृष्टि में स्थिर नहीं हो पाता। सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति के बाद भी इसका लोप हो जाता है, परन्तु मन फिर सम्यग्दृष्टि पर पहुंच जाता है। द्वन्द्व की यह स्थिति अधिक समय तक नहीं टिकती, क्योंकि व्यक्ति इस स्थिति से ऊपर उठने का पूर्ण प्रयास करता है।

अवस्था 4 : अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान : इस अवस्था में व्यक्ति सम्य-ग्दृष्टि में स्थिर हो जाता है। आत्मिक विकास की यह एक महत्त्वपूर्ण अवस्था है, क्योंकि इसमें स्पष्ट आभास मिलता है कि सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र का कम-से-कम बीजारोपण हो चुका है, और इस बात की हर संभावना रहती है कि व्यक्ति अब सत्य एवं आचरण के अपने सिद्धान्त को व्यवहार में उतारेगा।

इस अवस्था में यद्यपि सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो जाती है, फिर भी व्यक्ति अपने इंद्रियों के बारे में असंयत रहता है। इस अवस्था में आत्मसंयम के अभाव का कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि तीन प्रकार के कर्मों में से केवल एक पर विजय प्राप्त करके मिली हुई होती है। ये तीन प्रकार हैं : **औपशमिक, क्षायोपशमिक,** और **क्षायिक सम्यग्दृष्टि।** जब तक इन तीनों पर विजय नहीं प्राप्त की जाती, तब तक आत्मसंयम संभव नहीं, और जब तक आत्मसंयम नहीं होता, तब तक आदमी आगे की अवस्था में नहीं पहुंच पाता।

अवस्थाएं 5, 6 व 7 : देशविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, प्रमत्त संयत गुण-स्थान और अप्रमत्त संयत गुणस्थान : ये अवस्थाएं व्यक्ति की इंद्रिय-विषयों को वश में करने की इच्छाशक्ति तथा इन्द्रियों द्वारा व्यक्ति को सतत नीचे गिराने के प्रयास के बीच के द्वन्द्व की द्योतक हैं। अतः स्वाभाविक है कि सफलता शनैः-शनैः ही मिलती है। प्रथम अवस्था में केवल आंशिक सफलता मिलती है और आत्म-चेतना प्राप्त होती है। व्यक्ति यद्यपि बड़ी लगन से प्रयास करता है, परन्तु

उसे पूरी सफलता नहीं मिलती। अगली अवस्था में लगभग पूरी सफलता मिल जाती है। लगता है कि व्यक्ति ने स्वयं पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया है; परन्तु मन्द कषाय अभी उस पर कुछ हावी रहते हैं। अतः इस अवस्था में भी जीव की पूर्ण शक्ति प्रकट नहीं होती; संयम में कुछ प्रमाद बना रहता है, इसलिए इसे **प्रमत्त संयत गुणस्थान** कहते हैं। तीसरी अवस्था में व्यक्ति को पूर्ण सफलता मिल जाती है; वह स्वयं पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेता है। आत्मा शरीर पर विजय प्राप्त कर लेती है। प्रमाद पूर्ण रूप से समाप्त हो जाता है। यह अवस्था इसलिए महत्त्व की है कि इसके आगे व्यक्ति पूर्ण या केवल सापेक्षिक आध्यात्मिक विशुद्धि की स्थिति पर पहुंच जाता है। परम आध्यात्मिक विशुद्धि की प्राप्ति कर्म के दुष्ट प्रभावों के पूर्ण विनाश से ही होती है, और इस ओर आगे बढ़ने के मार्ग को **क्षपक श्रेणि** कहते हैं। सापेक्षिक आध्यात्मिक विशुद्धि में कर्म के प्रभावों का मात्र उपशमन होता है, इसलिए इसे **उपशम श्रेणि** कहते हैं।

अवस्था 8 : निवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान : इस अवस्था में आत्मा अद्भुत मानसिक शक्ति प्राप्त करती है, जिसका कर्मों का दमन तथा विनाश करने में इस्तेमाल हो सकता है। इस अवस्था में जीव विशुद्ध हो जाने के कारण कर्मों के पूर्व-बन्धन की तीव्रता को अल्पावधि में क्षीण कर सकता है। नये कर्मों के साथ भी सम्पर्क होता है, परन्तु इनकी कालावधि तथा तीव्रता सीमित होती है। नयी इच्छाशक्ति के कारण इस अवस्था में व्यक्ति में बड़ा विश्वास पैदा हो जाता है।

अवस्थाएं 9 व 10 : अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान और सूक्ष्म संपराय गुणस्थान : ये एक प्रकार से 'आध्यात्मिक युद्ध' की अवस्थाएं हैं; इनमें व्यक्ति अपने नये प्राप्त शस्त्रों का इस्तेमाल करता है। पहली अवस्था में मुख्यतः स्थूल संवेगों तथा आम प्रवृत्तियों से युद्ध होता है। आगे की अवस्था में सूक्ष्मरूप संवेगों तथा कषायों से युद्ध होता है।

अवस्था 11 : उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान : आध्यात्मिक विकास की इस अवस्था में कषायों का पूर्णतः विनाश हो जाता है, और इस प्रकार व्यक्ति कर्म के दुष्ट प्रभावों से मुक्त हो जाता है। वह वीतरागी बन जाता है। फिर भी कषायों तथा संवेगों का पुनः उदय होने की संभावना रहती है और इसलिए कर्म के प्रभाव पुनः लद जाने का खतरा रहता है। **उपशम श्रेणि** की दृष्टि से यह अवस्था सर्वोच्चता की द्योतक है।

अवस्था 12 : क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान : इस अवस्था में कर्म-प्रभाव पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं, और जीव **क्षीणक श्रेणि** के अन्त पर पहुंच जाता है। यह अवस्था क्षीण कषायों के शिखर की द्योतक है।

अवस्था 13 : संयोग केवली गुणस्थान : पिछली अवस्था के अंतिम दौर में जीव चार बाधक कर्मों—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय तथा मोहनीय कर्मों—से पूर्णत: मुक्त हो जाता है। इस अवस्था में **केवलज्ञान** की प्राप्ति होती है। लेकिन शरीर, मन और वाक् की क्रियाएं चालू रहती हैं। जीव **अघाति कर्मों**—आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय कर्मों—से अभी मुक्त नहीं होता। जब आयु कर्म क्षीण हो जाते हैं, तो अन्य कर्म भी लुप्त हो जाते हैं। आगे की अवस्था की शुरुआत के पहले सभी क्रियाएं रुक जाती हैं।

अवस्था 14 : अयोगी केवली गुणस्थान : यह पूर्ण मुक्ति की अवस्था है। इस अवस्था में व्यक्ति की सभी अशुद्धताएं नष्ट हो जाती हैं और उसकी चेतना परम शुद्ध अवस्था को प्राप्त होती है। यह सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्-चारित्र की प्राप्ति की चरमावस्था है। व्यक्ति को अपने अस्तित्व का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। यह गतिहीन अवस्था स्वल्पकाल की होती है। इस अवस्था के अन्त में परम मोक्ष प्राप्त होता है।

अणुव्रत आंदोलन 30

प्रसिद्ध जैन मुनि आचार्य तुलसी द्वारा राजस्थान में 1949 ई० में शुरू किया गया अणुव्रत आंदोलन जैन धर्म के सजीवत्व और उसमें जीवन तथा संसार के कल्याण के तत्त्व विद्यमान होने का स्पष्ट प्रमाण है। इसलिए इस आंदोलन में जैन धर्म के परम्परागत व्रतों एवं विश्वासों का समावेश किया गया है। परन्तु इन्हें जिस प्रकार प्रस्तुत किया गया है उससे पता चलता है कि जिस समय इस आन्दोलन के बारे में सोचा गया था और इसकी नींव डाली गयी थी (यह अब भी जारी है) उस समय तक व्यक्ति तथा समाज काफी दूषित हो चुका था, और उस समय चारित्र-निर्माण की तुरंत आवश्यकता अनुभव की गई थी। आचार्य तुलसी के मतानुसार जैन धर्म का उद्देश्य (व्यवहारिक) दृष्टि से मनुष्य के चारित्र का विकास करना है।

उनका विश्वास है कि आत्मशुद्धि तथा आत्मसंयम से समाज के दूषण अपने-आप दूर हो जाते हैं। इसलिए उनके मतानुसार यह विचार ठीक नहीं है कि धर्म का कार्य समाज को नियंत्रण में रखना है। व्यक्ति के चारित्र का विकास होने से सामाजिक नैतिकता का स्तर अवश्य ऊंचा होता है, परन्तु यह धर्म का मुख्य उद्देश्य नहीं है। व्यापक दृष्टि से सभी धर्मों के बारे में, विशेषत: जैन धर्म के बारे में, अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए वह लिखते हैं : "दीक्षा ग्रहण करते समय मुनि प्रतिज्ञा करता है कि आत्मकल्याण के लिए वह जीवन भर पांच महाव्रतों का पालन करेगा। व्रत की परिणति मुक्ति में होती है। इससे सहजत: समाज का नियंत्रण भी होता है, परन्तु यह इसका मुख्य परिणाम नहीं है।"[1] इसलिए उनका विचार है कि, यहां पृथ्वी पर ख्याति-प्राप्ति के लिए या आगामी जीवन के 'बेहतर भविष्य' के लिए धर्म का पालन करना—दोनों ही बातें गलत हैं। व्यक्ति के लिए धर्म का महत्त्व इस बात में मौजूद है कि आत्मशुद्धि के लिए इसका पालन करने से अपने-आप इस लोक (समाज) तथा अगले में इसके सुफल मिल जाते हैं। अत: धर्म में व्यक्ति को जो महत्त्व दिया

1. आचार्य तुलसी, 'कैन इंटेलेक्ट कॉम्प्रीहेंड रिलिजन ?', (चुरु : आदर्श साहित्य संघ, 1969), पृ० 67

जाता है उसका अर्थ यह नहीं है कि धर्म समाज की उपेक्षा करता है या संसार के भविष्य के बारे में चिंतित नहीं है, बल्कि यह धारणा है कि व्यक्ति की शुद्धि से ही अन्त में समाज की शुद्धि होती है। धर्म के बारे में इस मान्यता से स्पष्ट हो जाता है कि अणुव्रत आंदोलन का दृष्टिकोण एकांगी नहीं है।

जिस समय इस आंदोलन की शुरूआत की गयी थी, उस समय आचार्य तुलसी को भी एक धर्मपरायण दार्शनिक एवं पंथ-विशेष का नेता माना जाता था। चूंकि इस आंदोलन का नामकरण जैन परम्परा के अनुरूप हुआ था, इसलिए समझा गया था कि आचार्य तुलसी कुछ नये रूप में एक धार्मिक संप्रदाय का ही प्रतिपादन कर रहे हैं। इस आंदोलन के लिए ऐसे अन्य नाम के बारे में भी विचार किया गया जो एक विशिष्ट परम्परा—फिर वह परम्परा कितनी भी समृद्ध क्यों न हो से जनित संकुचित दृष्टिकोण का द्योतक न हो; परन्तु स्पष्ट हुआ कि अन्य कोई भी नाम इस आन्दोलन की महत्ता को ठीक से व्यक्त नहीं कर सकता। व्यक्ति के पुनर्निर्माण के इस दर्शन को एक भव्य नाम प्रदान करने के प्रयत्न में न उलझकर आचार्य इस आंदोलन को सक्रियता प्रदान करना चाहते थे। अणुव्रत शब्द को इस मान्यता के आधार पर उचित माना गया कि छोटे व्रत बड़े परिवर्तन लाते हैं। आरंभ में इस आंदोलन को अणुव्रत संघ का नाम दिया गया था; बाद में इसे अणुव्रत आंदोलन में बदल दिया गया। मूलतः यह आंदोलन नौ-विषयी कार्यक्रम तथा तेरह-विषयी व्यवस्था पर आधारित था जिन्हें पच्चीस हजार लोगों ने अपनाकर अमल में लाया है।[2] नौ-विषयी कार्यक्रम था : (1) आत्महत्या के बारे में न सोचना, (2) मदिरा तथा अन्य मादक द्रव्यों का सेवन न करना, (3) मांस तथा अंडों का सेवन न करना, (4) कोई बड़ी चोरी न करना, (5) जूआ न खेलना, (6) कोई अनैतिक तथा अप्राकृतिक संभोग न करना, (7) झूठे मामले तथा असत्य के पक्ष में साक्ष्य न देना, (8) वस्तुओं में मिलावट न करना और नकली वस्तुओं को असली बताकर न बेचना, (9) माप-तौल में बेईमानी न करना। तेरह-विषयी व्यवस्था थी : (1) चलते-फिरते निरपराध प्राणियों की हत्या न करना, (2) आत्महत्या न करना, (3) मदिरापान न करना, (4) मांस सेवन न करना, (5) चोरी न करना, (6) जूआ न खेलना, (7) झूठी साक्ष्य न देना, (8) दुष्ट भावना या प्रलोभन के वशीभूत होकर वस्तुओं या मकानों को आग न लगाना, (9) अनैतिक तथा अप्राकृतिक संभोग न करना, (10) वेश्या के पास न जाना, (11) धूम्रपान न करना और मादक द्रव्यों का सेवन न करना, (12) रात्रि को भोजन न करना, और (13) साधुओं के लिए भोजन न बनाना।

2. देखिये, मुनि नथमल, 'आचार्य तुलसी : हिज लाईफ एण्ड फिलॉसफी', (चूरु : आदर्श साहित्य संघ, 1968), पृ० 67

अणुव्रत संघ ने अपने कार्यक्रम में 84 व्रतों का समावेश किया था। संघ अभी शैशवावस्था में था और उन लोगों के अनुभवों का भी ध्यान रखना चाहता था जिनके हित के लिए इसकी स्थापना हुई थी, इसलिए यह काफी लचीला था और इसमें कुछ परिवर्तन के लिए काफी स्थान था। स्थापना के पांच वर्ष बाद इस आंदोलन का पूरा ढांचा ही बदल दिया गया। आचार्य ने सोच-विचार कर अणुव्रत संघ का नाम अणुव्रत आंदोलन रख दिया। यह नया नाम इसलिए पसंद किया गया कि यह पहले नाम से अधिक व्यापक उद्देश्य तथा दृष्टिकोण का परिचायक है। यह आंदोलन केवल भारत में ही सीमित नहीं रहा। एक प्रसिद्ध अमरीकी साप्ताहिक ने इस आंदोलन में रुचि लेकर परमाणविक नेता (एटामिक बॉस) शीर्षक के अन्तर्गत लिखा है : "अन्य विविध स्थानों के कुछ व्यक्तियों की तरह यहां भारत में पतला-दुबला, नाटे कद का, परन्तु चमकती आंखों वाला एक आदमी है जो संसार की वर्तमान स्थिति से बड़ा चिंतित है। उसका नाम है तुलसी, आयु 34, और वह जैन तेरापंथ का उपदेशक है। यह धार्मिक आंदोलन अहिंसावादी है। आचार्य तुलसी ने अणुव्रत संघ की स्थापना 1949 ई० में की थी···। जब उन्हें सभी भारतीयों को व्रत दिलाने में सफलता मिल जायेगी, तो उनकी योजना बाकी संसार को भी बदलने की है, ताकि लोग एक व्रती का जीवन बिता सकें।"[3]

आंदोलन के संस्थापक का कहना है कि अन्य धर्मों के प्रति इस आंदोलन का दृष्टिकोण सद्भावना तथा सहनशीलता का है। उनकी दृष्टि में, चूंकि इस आंदोलन के मूल सिद्धांत सार्वभौमिक हैं, इसलिए किसी धर्म के अनुयायी इसके सदस्य बन सकते हैं और इसके आदर्शों को अपना सकते हैं। अणुव्रत आंदोलन के स्वरूप एवं विस्तार के सार्वभौमिक होने के बारे में आपत्ति स्वाभाविक है। आचार्य ने इसका उत्तर दिया है। आपत्ति यह है कि अणुव्रत शब्द उन जैन शिक्षाओं से लिया गया है जो अणुव्रती के लिए सम्यग्दर्शन की प्राप्ति आवश्यक समझती हैं। चूंकि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति जीवन में जैन आचारों को अपनाने से मानी गयी है, इसलिए अणुव्रती में धार्मिक सहिष्णुता एवं सार्वभौमिक दृष्टिकोण की संभावना नहीं रह जाती। आचार्य का उत्तर है : चूंकि अहिंसावादी दृष्टिकोण अणुव्रती के दायरे तथा दर्शन भलीभांति व्यक्त करता है, इसलिए इस शब्द का थोड़े भिन्न अर्थ में प्रयोग करना जैन विचार एवं संस्कृति के प्रतिकूल नहीं है। आचार्य के मत का सार यह है कि, यह शब्द सभी धर्मों की परम्परागत धारणाओं में विद्यमान समान विचारों का द्योतक है।[4]

3. 'टाइम' न्यूयार्क, 15 मई, 1959 ई०
4. पूर्वो०, पृ० 28

यहां अहिंसा तथा अपरिग्रह के जैनमत के प्रति उठायी जानेवाली आपत्तियों पर विचार करना उपयोगी होगा, क्योंकि इससे हमें अणुव्रत आंदोलन को समझने में सुविधा होगी। यह जैनमत कि अहिंसा अंततोगत्वा जीवन के सभी क्षेत्रों में फैले और अन्य सभी सदाचारों को प्रकाशित करे, इसके अनुयायियों के लिए काफी दुष्कर हो जाता है। थोड़ा विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी नैतिक प्रणाली में किसी एक तत्त्व का केन्द्र में होना तथा सबका संयोजक एवं नियंत्रक होना परमावश्यक है। परन्तु अहिंसा के तत्त्व को जो महत्त्व दिया गया है, वह किसी एक को 'संयोजक' बनाने के उद्देश्य से नहीं है। इसका कारण अधिक गहरा है, और यह चेतना-सातत्य के जैन सिद्धांत को स्मरण करने से समझ में आ सकता है। संक्षेप में, सिद्धांत यह है कि यदि मुक्ति की (अजीव के बन्धन से मुक्त होने की) दिशा में विविध जीव विकास की विभिन्न अवस्थाओं में हैं, तो किसी भी एक जीव को - चाहे वह किसी भी उच्च अवस्था में हो - अधिकार नहीं कि वह किसी भी अन्य जीव – चाहे वह कितनी भी निम्न अवस्था में क्यों न हो – के आध्यात्मिक विकास में बाधक बने। जैन सिद्धांत में जीवन के प्रति श्रद्धा की भावना को स्पष्ट रूप से समझा गया है और उसका व्यवस्थित निरूपण किया गया है।

अहिंसा के साथ अपरिग्रह पर जो बल दिया गया है, उसकी और भी अधिक आलोचना की गयी है। इसका आधार यह है कि अपरिग्रह के नियम का कड़ाई से पालन इतना अधिक आवास्तविक है कि अनुयायियों के लिए इसके पालन का कोई अर्थ नहीं रह जाता। जैन दार्शनिकों ने बन्धन की स्थिति पर गहन विचार करके ही सुस्पष्ट भाषा में कड़े नियमों का प्रतिपादन किया है। परन्तु इसमें उन्होंने जनसाधारण की क्षमता का भी ध्यान रखा है। कड़ाई से पालन के लिए जिन पांच व्रतों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह— का विधान है, उन्हें महाव्रत कहा गया है। परन्तु अक्सर यह तथ्य भुला दिया जाता है कि जैन धर्म में पांच अणुव्रतों का भी विधान है। ये अणुव्रत उन गृहस्थों के लिए हैं जिन्होंने गृहत्याग नहीं किया है; उन्हें इन व्रतों का पालन भावना रूप में करना होता है।

इस प्रकार, अणुव्रत स्वरूप में महाव्रतों से भिन्न नहीं है, परन्तु गृहस्थ की सीमाओं का ध्यान रखते हुए उनके पालन में ढील दी गयी है। गृहस्थों के लिए अणुव्रतों का विधान जैन दार्शनिकों के इस मनोवैज्ञानिक निरीक्षण पर आधारित है कि, गृहस्थ की समाज के अन्य सदस्यों – घर के या बाहर के व्यक्तियों — के प्रति जो जिम्मेदारियां होती हैं, उनमें इन व्रतों का कड़ाई से पालन संभव नहीं है।

अणुव्रतों के पालन पर आधारित यह अणुव्रत आंदोलन इस बात को भी

आवश्यक मानता है कि सामान्य मनुष्य के विचार एवं आचरण को अहिंसा तथा अपरिग्रह की ओर मोड़ना जरूरी है। जहां परम्परागत जैन धर्म में गृहस्थों के लिए निर्धारित अणुव्रतों तथा मुनियों के लिए निर्धारित महाव्रतों में भेद किया गया है, वहां अणुव्रत आंदोलन में शुरुआत के, बीच के तथा उन्नतावस्था के अणुव्रतियों में भेद किया गया है। इन्हें क्रमश: **प्रवेशक अणुव्रती, अणुव्रती** तथा **विशिष्ट अणुव्रती** कहा गया है।

परम्परागत जैन धर्म में अहिंसा के व्रत का विधान शुद्ध रूप से आध्यात्मिक विकास तथा संसार के हर प्रकार के जीवन के प्रति दयाभाव की दृष्टि से किया गया है। अणुव्रत आंदोलन में आध्यात्मिक उन्नति के स्थान पर सामाजिक मूल्यों की स्थापना नहीं की गयी है; परन्तु समाज के हितों का स्पष्ट रूप से ध्यान रखा गया है। हिंसा, लोभ तथा घृणा से ग्रसित संसार की परिस्थितियों पर विचार करने से ही इस आन्दोलन का जन्म हुआ है। यद्यपि सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया गया था, परन्तु सुझाये गये उपाय सिर्फ सामाजिक सम्बन्धों की पुनर्रचना या संस्थाओं में कानूनी परिवर्तन करने के लिए नही थे। इस सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए आचार्य ने लिखा है : "शस्त्रों तथा प्रक्षेपणास्त्रों की होड़ से और युद्ध तथा शीतयुद्ध के धक्कों से आदमी जर्जर हो गया है। उसके लिए आत्मशुद्धि के अलावा अन्य कोई उपाय नहीं रह गया है। यदि इसमें परिवर्तन नहीं हुआ, तो संसार का विनाश बहुत दूर नहीं है। यह आंदोलन बताता है कि आदमी को शस्त्रों में नहीं बल्कि अहिंसा में विश्वास रखना चाहिए। जागतिक प्रगति को सर्वाधिक महत्त्व देने की बजाय उसे अपनी आत्म-चेतना को जागृत करना चाहिए।"[5] "अर्थशास्त्री कहते हैं कि इसका (समाज का) मुख्य ध्येय अधिकाधिक उपज करना है। ऊपरी सतह से देखने पर लगता है कि काफी हद तक समस्या का हल खोज लिया गया है। परन्तु मैं नही समझता कि इसका हल तब तक संभव है जब तक हम अतिलोभी बने रहते हैं। इसका एकमात्र हल है – आत्मशुद्धि। एक समर्पित जीवन न केवल हमें शांति प्रदान करता है, अपितु आर्थिक समस्याओं का भी हल खोज निकालता है।"[6]

अपरिग्रह : परम्पर से इसपरा इसलिए बल दिया जाता रहा कि यह ऐसी परिस्थितिया पैदा करता है जिनमें आसक्ति तथा सभी अनुचर दुष्कर्म नष्ट हो जाते हैं। यह आधुनिक आंदोलन परिग्रह की दशा में, चारित्र-अभाव के कारण, जीव पर अजीव के होने वाले दुष्ट प्रभावों की उपेक्षा नहीं करता। अपरिग्रह

5. वही, पृ० 27
6. वही, पृ० 29

को "अहिंसा का एक रूप माना गया है, जिसमें दूसरों से वस्तुओं की अपेक्षा नहीं रखी जाती।"[7] आचार्य स्पष्ट रूप से कहते हैं कि "सामाजिक नियंत्रण परिग्रह पर तो रोक लगा सकते हैं, परन्तु मनुष्य की तृष्णाओं पर नहीं। इस व्रत का अर्थ है तृष्णा पर नियंत्रण प्राप्त करके परिग्रह पर नियंत्रण प्राप्त करना।"[8]

यह स्पष्ट है कि अणुव्रत आंदोलन अहिंसा तथा अपरिग्रह के सिद्धान्तों को अन्य मूल्यों की पुनर्स्थापना तथा समाज के पुनर्निर्माण के लिए मूलाधार मानता है। इस आधुनिक संसार में भी आत्म-विश्लेषण तथा आत्मशुद्धि पर बल देते हुए आचार्य लिखते हैं : "यह सच है कि मनुष्य की बाह्य शक्तियां कई गुना बढ़ी हैं, परन्तु यह भी उतना ही सच है कि उसकी आन्तरिक शक्ति काफी घटी है। जैसे-जैसे मन की आन्तरिक स्थितियां कलुषित होती जाती हैं, वैसे-वैसे सामाजिक परिस्थितियां जटिल होती जाती हैं। रोगों के मूल अन्तर्मन के विकृत होते गुणों में निहित हैं। मनुष्य बाहरी चमक-दमक से चकाचौंध हो गया है। उसे इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिल रहा है कि वर्तमान युग विकास का युग है या अवनति का।"[9] किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि, पांचों व्रतों का भावना-पूर्वक पालन करने से ही आंदोलन के उद्देश्य पूरे हो सकते हैं।

अत: बिना किसी विरोधाभास के हम कह सकते हैं कि, वर्तमान काल के दुराचारों के निवारक के रूप में अणुव्रत आंदोलन का महत्त्व इस अर्थ में है कि यह बदली परिस्थितियों में उपयुक्त परिवर्तन के साथ पांच व्रतों के जैन दर्शन के सारतत्त्व का उपाय बताता है। और इसकी शांति एवं एकता की योजना भी महत्त्व की है। इस योजना के अनुसार, मनुष्य में सामाजिक एकता की अभिवृद्धि के लिए जो अमित क्षमताएं होती हैं, वे आंतरिक एकता के विकास तथा आत्मोन्नति से ही फलित हो सकती हैं।

7. वही, पृ० 21
8. वही
9. वही, पृ० 29

ग्रंथ-सूची

अनुत्तरोपपादिकदशा:

अन्तकृद्दशा:

आउटलाइन्स आफ इण्डियन फिलासफी (एम० हिरियन्ना, जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड, लंदन, 1957)

आउटलाइन्स आफ जैन फिलासफी (एम० एल० मेहता, जैन मिशन सोसायटी, बंगलोर, 1954)

आचारांग

आचार्य तुलसी : हिज लाइफ एण्ड फिलासफी (मुनि नथमल, आदर्श साहित्य संघ, चुरु, 1968)

आदिपुराण

आर्किओलाजिकल सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट्स, खण्ड तृतीय

आवश्यक-निर्युक्ति (भद्रबाहु)

इण्डियन एण्टिक्वेरी, खण्ड II, VII, IX, XVII, XIV और XX

इण्डियन फिलासफी (एस० राधाकृष्णन्, जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन लि०, लंदन)

इन्साइक्लोपिडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, खण्ड 11, 12 व 22

उत्तराध्ययनसूत्र

उपासकदशा:

ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, खण्ड प्रथम (एस० एन० दासगुप्त, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1963)

एपिग्राफिका इंडिका, 1

एथिकल डॉक्ट्रिन्स इन जैनिज्म (के० सी० सोगानी, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1967)

कठ उपनिषद्

कर्मग्रन्थ

कल्पसूत्र

क्रिश्चियन एण्ड हिन्दू एथिक्स (एस० सी० ठाकुर, जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन

लि०, लंदन, 1969)
गोम्मटसार
गौतम धर्मसूत्र
छान्दोग्य उपनिषद्
जैन साइकोलाजी (एम० एल० मेहता, जैन धर्म प्रचारक समिति, 1955)
जैन सूत्राज, भाग प्रथम, (एच० याकोबी, अनु० मोतीलाल बनारसीदास, 1964)
जैन थ्योरीज आफ रियलिटी एण्ड नॉलेज (वाई० जे० पद्मराजिह, जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई, 1963)
जैन व्यू आफ लाइफ (टी०जी० कालघटगी, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1969)
जैनिज्म इन नॉर्थ इण्डिया (सी० जे शाह, लौंगमैन ग्रीन एण्ड कं०, लंदन, 1932)
ज्ञानसूत्र
तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वामि)
तत्त्वार्थसूत्र भाष्य (उमास्वामि)
तत्त्वार्थ-श्लोक-वार्तिक (विद्यानन्द)
दशवैकालिक निर्युक्ति (भद्रबाहु)
द्रव्यसंग्रह और टीका
नन्दीसूत्र
नियमसार (कुन्दकुन्द)
न्यायावतार वृत्ति
पंचास्तिकाय (कुन्दकुन्द)
परीक्षामुखसूत्र (माणिक्यनन्दी)
फिलासफीज आफ इण्डिया (झिम्मेर, रूटलेज एण्ड केगान पॉल, लंदन, 1953)
प्रमाण-मीमांसा (हेमचन्द्र) और टीका
प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार (वादिदेव)
प्रवचनसार
प्रिंसिपल्स आफ साइकोलाजी (विलियम जेम्स, लंदन, 1946)
भगवतीसूत्र
बुद्धिस्ट लॉजिक (थि० श्चेरवात्स्की, लेनिनग्राद, 1930)
बृहदारण्यक उपनिषद्
बौधायन धर्मसूत्र

रियल्स इन द जैन मेटाफिजिक्स (एच० एस० भट्टाचार्य, द सेठ शांतिदास खेतसी चैरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई, 1966)
रेन आफ रिलिजन इन इंडियन फिलासफी (आर० नागराज शर्मा)
विशेषावश्यक भाष्य (जिनभद्र)
विशिष्टाद्वैत (पी० एन० श्रीनिवासचारी)
विष्णु पुराण (एच० एच० विलसन, अनु०)
षट्खण्डागम (पुष्पदन्त)
षड्दर्शनसमुच्चय
सन्मति-तर्क-प्रकरण (सिद्धसेन)
सर्वार्थसिद्धि (देवानन्दि)
साइकोलाजिकल प्रिंसिपल (जेम्स वार्ड)
स्टडीज इन जैन फिलासफी (एन० तातिया, जैन कल्चरल रिसर्च सोसायटी, बनारस, 1951)
स्टडीज इन जैनिज्म (जिनविजय मुनि, जैन साहित्य संशोधक स्टडीज, अहमदाबाद, 1946)
स्याद्वादमंजरी (हेमचन्द्र)
हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, खण्ड प्रथम (सी० ईलियट, रूटलेज एण्ड केगान पॉल लि०, लंदन, 1962)
हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी, खण्ड प्रथम (उमेश मिश्र, तिरभुक्ति पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, 1967)

शब्दानुक्रमणिका